भारतीय चित्त, मानस और काल

धर्मपाल

श्री धर्मपालजी (जन्म-काधला, मुजफ्फरनगर, १९२२) ने लाहौर में शिक्षा पाने के साथ स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया। मीरा बेन द्वारा रुडकी एवं ऋषिकेश के बीच स्थापित 'पशुलोक' एवं 'बापुग्राम' से सम्बद्ध रहने के बाद 'एसोसिएशन ऑफ वालण्टरी आर्गेनाइजेशन्स ऑफ रूरल डेवलपमेण्ट' (अवार्ड, दिल्ली) के महासचिव और निदेशक (१९५८-१९६४) रहे। फिर अखिल भारतीय पंचायत परिषद के शोध विभाग का कार्य देखते (१९६४-६५) रहे। वर्तमान में धर्मपालजी भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के सदस्य और राष्ट्रीय गौपशु आयोग के अध्यक्ष हैं।

श्री धर्मपालजी ने गत पचीस-तीस वर्ष अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में इतिहास द्वारा उपेक्षित भारतीय समाज की शक्तियों-कमियों की खोज करने में लगाये हैं और देश-विदेश के अभिलेखागारों-ग्रंन्थागारों से प्रभूत प्रमाण एकत्र किये हैं जिनसे अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय समाज की एक ऐसी तस्वीर का पता चलता है जो आज के भारतीय मन में अंकित तस्वीर के सर्वथा विपरीत है।

श्री धर्मपाल के प्रकाशित ग्रन्थ हैं -

सिविल डिसओबीडिएन्स एण्ड इन्डियन ट्रेडीशन
इण्डियन साइन्स एण्ड टेक्नॉलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी
डेस्पोलियेशन एण्ड डिफेमिंग ऑफ इण्डिया
द मद्रास पंचायत सिस्टम
द ब्यूटीफुल ट्री
अंग्रेजों से पहले का भारत
भारतीय चित्त, मानस और काल
भारत का स्वधर्म
स्वदेशी और भारतीयता

अंग्रेजी की सभी पुस्तकें अभी हाल में अदर इण्डिया प्रेस, गोवा से पुनः प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी में भी शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही हैं।

: प्रकाशक :

भारत पीठम्

भारतीय चित्त, मानस और काल

धर्मपाल

प्रकाशक
भारत पीठम

भारतीय चित्त, मानस और काल

लेखक : **धर्मपाल**

पहला संस्करण	:	2000 प्रतियां (मई २०००)
दूसरा संस्करण	:	2000 प्रतियां (मार्च 2002)
तीसरा संस्करण	:	5000 प्रतियां (जुलाई 2002)

प्रकाशक
भारत पीठम
चांडक निवास
शाष्त्री चौक, बेचलर रोड
वर्धा – ४४२००१
फोन : (०७१५२) ४२८५१, ८४४१

सहयोग राशि : १० रुपये

मुद्रण : कॉन्फीसेक प्रिन्टर्स, अहमदाबाद

उन सब लोगों के लिए
जो
भारत की संस्कृति
उसकी सभ्यता
और
उसकी प्रकृति को
भारतीय दृष्टिकोण से
समझना चाहते है।

विषय – सूची

यह बीसवीं–इक्कीसवीं सदी है किसकी !!

गाँधीजी ६ जनवरी, १६१५ को अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास से वापस देश लौटे। रास्ते में वे ब्रिटेन में भी रुके थे। उसके बाद, बर्मा और श्रीलंका की बात छोड़ दें तो वे केवल एक बार विदेश गए – १६३१ की वह यात्रा ब्रिटेन जाने के लिए ही थी। पर भारत से जाते और यहाँ लौटते हुए वे मिस्र, फ्रांस, स्विट्जरलैंड और इटली में भी कुछ–कुछ दिन ठहरते गए। अमेरिका वाले तब बहुत चाहते रहे कि गाँधीजी वहाँ भी आएं। लेकिन उनका अमेरिका जाना नहीं हो पाया।

१६१५ में गाँधीजी के मुंबई उतरने से पहले ही देश में उनसे बहुत बड़ी उम्मीदें लगाई जाने लगी थीं। उस समय के संपादकीय आलेखों से लगता है कि उन्हें कुछ अवतार–पुरुष सा समझा जाने लगा था। मुंबई में गाँधीजी और कस्तूरबा का जैसा स्वागत हुआ, वैसा उस नगर की स्मृति में पहले किसी का नहीं हुआ था – ऐसा उन दिनों के समाचारपत्रों का कहना है। मुंबई के बड़े–बड़े घरों में गाँधीजी और कस्तूरबा के सम्मान व स्वागत में अनेक भोज हुए। उन भोज–समारोहों में मुंबई हाईकोर्ट के कई न्यायाधीश और मुंबई के गवर्नर की परिषद के सदस्य भी पहुँचे। मुम्बई के सम्पन्न समाज के प्रमुख लोग और बड़े–बड़े उद्योगपति तो उन भोजों में उपस्थित थे ही।

पर तीन दिन में ही गाँधीजी और कस्तूरबा इस सबसे ऊब गए। १२ जनवरी को हुए एक बड़े स्वागत समारोह में गाँधीजी ने अपनी उकताहट सबके सामने प्रकट कर ही डाली। इस समारोह में ६00 से अधिक अतिथि आए थे, और फीरोजशाह मेहता स्वयं इसके अध्यक्ष थे। समारोह में बोलते हुए गाँधीजी ने कहा कि उन्होंने सोचा था कि देश आकर उन्हें दक्षिण अफ्रीका से कहीं अधिक आत्मीयता का अनुभव होगा। लेकिन पिछले तीन दिनों से मुझे और कस्तूरबा को लग रहा है कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीय

मजदूरों के बीच जीवन अधिक आत्मीय था। यहाँ तो हम अपने को कुछ पराए–से लोगों के बीच ही पा रहे हैं।

उसके बाद गाँधीजी का रहन–सहन बदलता ही चला गया। उनके कार्यक्रम भी बड़े लोगों के भोज–समारोहों से हटकर अधिकतर साधारण लोगों के बीच होने लगे। और देश के साधारणजन के मानस में उनकी ऐसी पैठ हुई कि जनवरी के अंतिम सप्ताह में, उनके मुंबई उतरने के एक पखवाड़े के भीतर, सौराष्ट्र में लोग उन्हें 'महात्मा' कहकर संबोधित करने लगे। उसके केवल तीन महीने बाद, लगभग एक हजार मील दूर, हरिद्वार के पास गुरुकुल कांगड़ी में भी उन्हें 'महात्मा' कहा जा रहा था।

तब से लेकर अगले पच्चीस–तीस बरस तक देश में सघन आत्म–विश्वास की एक लहर चलती रही। लोगों को शायद ऐसा आभास होता रहा कि उनके कष्टों का निवारण करने के लिए, पृथ्वी का बोझ घटाने के लिए, और जीवन को फिर से संतुलित करने के लिए, एक अवतार–पुरुष उनके बीच उपस्थित है। अधिकांश भारतीयों ने उन्हें कभी देखा भी नहीं होगा। बहुतों ने उनके रहन–सहन व काम–काज के तरीकों को कभी सही भी नहीं माना होगा। और शायद भारत के अधिकतर लोग १६४५–४६ तक भी यही मानते रहे होंगे कि गाँधीजी जो स्वतंत्रा संग्राम चला रहे थे, उसके सफल होने की कोई संभावना नहीं है। लेकिन फिर भी शायद सभी भारतीयों को उनमें एक अवतार–पुरुष और एक दिव्य आत्मा के दर्शन होते रहे।

पृथ्वी के कष्टों का निवारण करने के लिए अवतार–पुरुष जन्म लिया करते हैं, यह मान्यता भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन समय से चली आ रही है। रामायण, महाभारत और पुराणों के रचना–काल से तो ऐसा माना ही जा रहा है। द्वापर का अंत आते–आते धर्म का इतना ह्रास होता है कि पृथ्वी अपने ऊपर के बोझ से पीड़ित होकर विष्णु से इस बोझ को किसी प्रकार हल्का करने की प्रार्थना करती है। तब देवों की ओर से एक बड़ी व्यूह रचना होती है और विष्णु स्वयं श्रीकृष्ण आदि के रूप में पृथ्वी पर उतरते हैं। महाभारत का युद्ध पृथ्वी के बोझ को हल्का करने की इसी प्रक्रिया का एक उदाहरण है। ललित–विस्तर आदि बौद्ध–चरितों में गौतम बुद्ध के पृथ्वी पर अवतरण के भी ऐसे ही कारण दिए गए हैं। इसी प्रकार समय–समय के

प्रश्नों के समाधान के लिए अनेक अवतार होते रहते हैं।

इसलिए १६१५ में भारत के लोगों ने सहज ही यह मान लिया कि भगवान् ने उनका दुःख समझ लिया है, और उस दुःख को दूर करने के लिए व भारतीय जीवन में एक नया संतुलन लाने के लिए महात्मा गाँधी को भेजा गया है। गाँधीजी के प्रयासों से भारतीय सभ्यता की दासता का दुःख बहुत कुछ कट ही गया। लेकिन भारतीय जीवन में कोई संतुलन नहीं आ पाया। गाँधीजी १६४८ के बाद जीवित रहते तो भी इस नए संतुलन के लिए तो कुछ और ही प्रयत्न करने पड़ते।

जो काम महात्मा गाँधी पूरा नहीं कर पाए उसे पूरा करने के प्रयास हमें आगे–पीछे तो आरंभ करने ही पड़ेंगे। आधुनिक विश्व में भारतीय जीवन के लिए भारतीय मानस व काल के अनुरूप कोई नया संतुलन ढूँढे बिना तो इस देश का बोझ हल्का नहीं हो पाएगा। और उस नए ठोस धरातल को ढूँढने का मार्ग वही है जो महात्मा गाँधी का था। इस देश के साधारणजन के मानस में पैठकर, उसके चित्त व काल को समझकर ही, इस देश के बारे में कुछ सोचा जा सकता है।

गाँधीजी के लिए यह समझ और पैठ सहज ही थी। हमें उसे पाने के लिए अनेक बौद्धिक प्रयत्न करने पड़ेंगे। पर हमें यह जानना तो पड़ेगा ही कि इस देश के साधारणजन इसे किस दिशा में ले जाना चाहते हैं? वर्तमान की उनकी समझ क्या है? भविष्य का कैसा प्रारूप उनके मन में है? जिन साधारण लोगों के बल पर इस देश को एक नया संतुलन दिया जाना है, इस देश को बनाया जाना है, वे लोग हैं कौन? उनका स्वभाव क्या हैं? उनकी आदतें कैसी हैं? उनकी प्राथमिकताएं क्या हैं? इच्छाएँ–आकांक्षाएँ क्या हैं? वे अपने बारे में क्या मानते हैं? और संसार को कैसे देखते हैं? या फिर वे भवगान् को नहीं मानते, तो किसे मानते हैं? काल को मानते हैं? दैव को मानते हैं? या कुछ और ही उनके मन में है क्या? जनसाधारण की अच्छे जीवन की कल्पना के अनुरूप और उनके सहयोग से इस देश को कुछ बनाना है तो यह सब तो जानना ही पड़ेगा।

लेकिन अपने लोगों के चित्त व मानस को समझने की यह बात लगता है हमें अच्छी नहीं लगती। गाँधीजी का भारत के साधारणजन के

साथ एकाकार होकर उन्हीं के चित्त की बात को शब्द देते जाना भी हम भद्रजनों को कभी सुहाता नहीं था। भारतीय चित्त व मानस से हमें डर–सा लगता है। हम यह मानकर चलना चाहते हैं कि भारतीय मानस कुछ है ही नहीं। वह तो एक साफ स्लेट है, जिस पर हम भद्र लोगों को आधुनिकता से सीखकर एक नया आलेख लिखना है।

पर शायद हमें यह आभास भी है कि भारतीय चित्त वैसा साफ–सपाट नहीं है, जैसा मानकर हम चलना चाहते हैं। वास्तव में तो वह सब विषयों पर सब प्रकार के विचारों से अटा पड़ा है। और वे विचार कोई नए नहीं हैं। वे सब पुराने ही हैं। शायद ऋग्वेद के समय से वे चले आ रहे हैं। या शायद गौतम बुद्ध के समय से कुछ विचार उपजे होंगे, या फिर महावीर के समय से। पर जो भी ये विचार हैं, जहाँ से भी वे आए हैं, वे भारतीय मानस में बहुत गहरे पैठे हुए हैं। और शायद हम यह बात जानते हैं। लेकिन हम इस वास्तविकता को समझना नहीं चाहते। इसे किसी तरह नकार कर, भारतीय मानस व चित्त की सभी वृत्तियों से आँखे मूँदकर, अपने लिए कोई एक नई दुनिया हम गढ़ लेना चाहते हैं।

इसलिए अपने मानस को समझने की सभी कोशिशें हमें बेकार लगती हैं। अठारहवीं–उन्नीसवीं सदी के भारत के इतिहास का मेरा अध्ययन भी भारतीय मानस को समझने का एक प्रयास ही था। उस अध्ययन से अंग्रेजों के आने से पहले के भारतीय राज–समाज की, भारत के लोगों के सहज तौर–तरीकों की एक समझ तो बनी। समाज की जो भौतिक व्यवस्थाएँ होती हैं, विभिन्न तकनीकें होती हैं, रोजमर्रा का काम चलाने के जो तरीके होते हैं, उनका एक प्रारूप–सा तो बना, पर समाज के अंतर्मन की, उसके मानस की, चित्त की कोई ठीक पकड़ उस काम से नहीं बन पाई। मानस को पकड़ने का, चित्त को समझने का मार्ग शायद अलग होता है।

पर भारतीय राज–समाज की भौतिक व्यवस्थाओं को समझने का मेरा वह प्रयास भी अधिकतर लोगों को विचित्र ही लगा था। १९६५–६६ में जब मैंने अठारहवीं–उन्नीसवीं सदी के दस्तावेजों को देखना शुरू किया तो दिल्ली के एक मित्र ने कहा "भई तुम ये क्या गड़े मुर्दे उखाड़ने लगे हो?

कुछ ढंग का काम क्यों नहीं करते?" और बहुत लोगों ने कहा कि आप अठारहवीं सदी की ये जो बातें करते हैं वे माना कि ठीक हैं। उस समय भारत में खेती अच्छी होती होगी। बढ़िया लोहा बनता होगा। लोगों को चेचक आदि से बचाव के टीके लगाना आता होगा। प्लास्टिक सर्जरी होती होगी। लोगों की राज–समाज की अपनी सक्षम व्यवस्थाएँ रही होंगी। पंचायत रही होंगी। यह सब सुनकर तो अच्छा ही लगता है। इन बातों से आत्म–विश्वास और आत्म–गौरव का भाव भी शायद देश में कुछ–कुछ जागता हो, पर आजकल के संदर्भ में तो ये कोई बहुत काम की बातें नहीं हैं। यह सब जानकारी आज किस काम आने वाली है? यह सब जानने का लाभ क्या है? ऐसा अक्सर लोग पूछते रहते हैं।

इसी तरह का सवाल श्री चंद्रशेखर ने उठाया था। उनके घर मैं गया था। वे पूछने लगे आप यह अठारवीं सदी को लेकर क्या बैठे हैं? अब तो बीसवीं–इक्कीसवीं की बात होनी चाहिए। और भी बहुत से अनुभवी व परिचित लोग यही बात और अधिक जोर देकर करते रहते हैं। लगता है हम जैसे सभी भारतीय ही किसी तरह बीसवीं–इक्कीसवीं सदी में पहुँचने की बातें करने लगे हैं।

पर यह बीसवीं–इक्कीसवीं सदी है किसकी? हमारी तो यह सदी नहीं है। भारत के जो साधारण लोग हैं, जिनकी अवस्था देखकर हम दुःखी होते रहते हैं और जिनकी भलाई के नाम पर यह सब ताम–झाम चलता है, उनकी तो यह सदी नहीं है। जवाहरलाल नेहरू की मानें तो वे साधारण लोग तो अभी सत्तरहवीं–अठारहवीं सदी में ही रह रहे हैं। जवाहरलाल नेहरू ऐसा कहा करते थे, और वे इस बात को लेकर बहुत परेशान थे कि अपने लोग अठारहवीं सदी से बाहर निकल ही नहीं रहे, बीसवीं में आ नहीं रहे।

पर वे साधारणजन तो शायद पश्चिम की अठारहवीं सदी में भी न हों। हो सकता है कि वे अभी किसी पौराणिक युग में ही रहे हों। काल और युग की अपने यहाँ जो कल्पना है, उसी दृष्टि से वर्तमान को देख रहे हों। कलियुग में रहते हुए किसी अवतार–पुरुष के आने की अपेक्षा में हों। उनकी मान्यताओं के अनुसार तो पश्चिम की इस बीसवीं सदी में ही महात्मा गाँधी

के रूप में एक अवतार–पुरुष यहाँ आए भी थे। पर शायद उन्हें किसी दूसरे–तीसरे के आने की उम्मीद है, और शायद उसी की बातों में वे मग्न हों।

अगर यह सच है कि इस देश के साधारण लोग तो अपनी पौराणिक कल्पना के कलियुग में ही रह रहे हैं तो इसी कलियुग को समझने की कोशिश करनी पड़ेगी। बीसवीं सदी का राग अलापते रहने से तो हमारा काम नहीं चल पाएगा। हमारे लोग इस सदी में नहीं हैं तो यह अपनी सदी है ही नहीं। वैसे भी यह पश्चिम की ही सदी है। हो सकता है जापान वालों को भी कुछ–कुछ अपनी ही सदी लगती हो, पर मुख्य रूप से तो यह यूरोप और अमेरीका की ही सदी है। और क्योंकि, हम यूरोप या अमेरिका या जापान के साथ अपने संपर्क को तोड़ नहीं सकते, इसलिए उनकी इस बीसवीं सदी को भी शायद कुछ समझना पड़ेगा। पर यह समझना तो अपने साधारण लोगों की दृष्टि से ही होगा न? अपने काल के आधार पर ही दूसरों के काल को समझा जाएगा न? समझने की प्रक्रिया का यह सामान्य क्रम उलटा तो नहीं जा सकता। हमें तो कलियुग की दृष्टि से ही बीसवीं सदी को समझना पड़ेगा, बीसवीं सदी की दृष्टि से कलियुग को समझना तो हो ही नहीं सकता।

हममें से कुछ लोग शायद मानते हों कि वे स्वयं भारतीय मानस, चित्त व काल की सीमाओं से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं। अपनी भारतीयता को लाँघकर वे पश्चिमी आधुनिकता या शायद किसी प्रकार की आदर्श मानवता के साथ एकात्म हो गए हैं। ऐसे कोई लोग हैं तो उनके लिए बीसवीं सदी की दृष्टि से कलियुग को समझना और भारतीय कलियुग को पश्चिम की बीसवीं सदी के रूप में ढालने के उपायों पर विचार करना संभव होता होगा। पर ऐसा अक्सर हुआ नहीं करता। अपने स्वाभाविक देश–काल की सीमाओं–मर्यादाओं से निकलकर किसी और के युग में प्रवेश कर जाना असाधारण लोगों के बस की भी बात नहीं होती। जवाहरलाल नेहरू जैसों से भी नहीं हो पाया होगा। अपनी सहज भारतीयता से पूरी तरह मुक्त वे भी नहीं हो पाए होंगे। महात्मा गाँधी के कहने के अनुसार भारत के लोगों में जो एक तर्कातीत और विचित्र–सा भाव है, उस विचित्र तर्कातीत का शिकार होने से जवाहरलाल नेहरू भी नहीं बच पाए होंगे। फिर बाकी लोगों की तो बात ही क्या है। वे तो भारतीय मानस की मर्यादाओं से बहुत दूर जा ही नहीं

पाते होंगे।

भारत के बड़े लोगों ने आधुनिकता का एक बाहरी आवरण सा जरूर ओढ़ रखा है। पश्चिम के कुछ संस्कार भी शायद उनमें आए हैं। पर चित्त के स्तर पर वे अपने को भारतीयता से अलग कर पाए हों, ऐसा तो नहीं लगता। हाँ, हो सकता है कि पश्चिमी सभ्यता के साथ अपने लंबे और घनिष्ठ सम्बन्ध के चलते कुछ दस–बीस–पचास हजार, या शायद लाखेक लोग, भारतीयता से बिल्कुल दूर हट गए हों। पर यह देश तो दस–बीस–पचास हजार या लाख लोगों का नहीं है। यह तो अस्सी करोड़ लोगों की कथा है।

भारतीयता की मर्यादाओं से मुक्त हुए ये लाखेक आदमी जाना चाहेंगे तो यहाँ से चले ही जाएँगे। देश अपनी अस्मिता के हिसाब से, अपने मानस, चित्त व काल के अनुरूप चलने लगेगा तो हो सकता है इनमें से भी बहुतेरे फिर अपने सहज चित्त–मानस में लौट आएँ। जिनका भारतीयता से नाता पूरा टूट चुका है, वे तो बाहर कहीं भी जाकर बस सकते हैं। जापान वाले जगह देंगे तो वहाँ जाकर रहने लगेंगे। जर्मनी में जगह हुई तो जर्मनी में रह लेंगे। रूस में कोई सुंदर जगह मिली तो वहाँ चले जाएँगे। अमेरिका में तो वे अब भी जाते ही हैं। दो–चार लाख भारतीय अमेरिका जाकर बसे ही हैं। और उनमें बड़े–बड़े इंजीनियर, डॉक्टर, दार्शनिक, साहित्यकार, विज्ञानविद् और अन्य प्रकार के विद्वान भी शामिल हैं।

पर इन लोगों का जाना कोई बहुत मुसीबत की बात नहीं है। समस्या उन लोगों की नहीं जो भारतीय चित्त व काल से टूटकर अलग जा बसे हैं। समस्या तो उन करोड़ों लोगों की है जो अपने स्वाभाविक मानस व चित्त के साथ जुड़कर अपने सहज काल में रह रहे हैं। इन लोगों के बल पर देश को कुछ बनाना है तो हमें उस सहज चित्त, मानस व काल को समझना पड़ेगा। और भारतीय वर्तमान के धरातल से पश्चिम की बीसवीं सदी का क्या रूप दिखता है, उस बीसवीं सदी और अपने कलियुग में कैसा और क्या संपर्क हो सकता है, इस सब पर विचार करना पड़ेगा। यह तभी हो सकता है जब हम अपने चित्त व काल को, अपनी कल्पनाओं व प्राथमिकताओं को, और अपने सोचने–समझने व जीने के तौर–तरीकों को ठीक से समझ लेंगे।

अपना अध्ययन भी विदेशी निगाह से

सहज भारतीय, चित्त, मानस व काल को समझने के कई मार्ग हैं। अठारहवीं सदी के स्वदेशी राज–समाज को समझने का मेरा प्रयास एक मार्ग था। उस मार्ग से मानस तो शायद पकड़ में नहीं आता, पर उस मानस की विभिन्न भौतिक व्याप्तियों की कुछ समझ तो बनती है। सहज भारतीय तौर–तरीकों और व्यवस्थाओं का कुछ अनुमान होता है।

अपने साधारण लोगों को जानना, वे कैसे जीते हैं, किस प्रकार की बातें करते हैं, अलग–अलग परिस्थितियों से कैसे निपटते हैं, कैसा व्यवहार करते हैं, यह सब देखने–समझने की कोशिश करना भारतीय मानस, चित्त व काल को पकड़ने का एक और मार्ग है। पर यह शायद कुछ कठिन रास्ता है। हम सोचने–समझने वाले लोग फिलहाल अपनी जड़ों से इतने उखड़े हुए हैं कि अपने लोगों की बातों को उन्हीं की दृष्टि से समझ पाना शायद अभी हमसे बन न पाए।

भारतीय मानस को समझने के लिए अपने प्राचीन साहित्य को तो समझना ही पड़ेगा। यहाँ का असीम साहित्य, जो भारतीय सभ्यता का आधार रही है, और जिससे अपने यहाँ की प्रज्ञा और व्यवहार नियमित होते रहे हैं, उसे जाने बिना भारतीय मानस को जानने की बात चल नहीं सकती। ऋग्वेद से लेकर अपना जितना साहित्य हैं, उपनिषद् हैं, पुराण हैं, महाभारत और रामायण हैं, या बौद्ध और जैन साहित्य हैं, या फिर आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र व धर्मशास्त्र जैसे व्यावहारिक विषयों की जो विभिन्न संहिताएँ हैं, उन सबकी एक समझ तो हमें बनानी ही पड़ेगी। इस सारे साहित्य से इस देश के मानस का, और उसकी विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व तकनीकी व्याप्तियों का क्या चित्र उभरता है, और वह चित्र समय–समय पर कैसे बदलता–सँवरता रहा है, इसका एक मोटा अनुमान तो हमें करना ही पड़ेगा। ऐसे किसी अनुमान के बिना अपने को समझने की प्रक्रिया आरंभ ही नहीं हो सकती। कम–से–कम बुद्धि पर आधारित प्रक्रियाएँ तो

ऐसे ही चला करती हैं। ज्ञानातीत कोई रास्ता हो तो उसकी बात अलग है।

अपने सारे पुराने साहित्य को देख–समझकर अपने चित्त व काल की एक तस्वीर बनाने, और उस तस्वीर में आधुनिक विश्व और उसकी वृत्तियों को उपयुक्त स्थान देने का काम हम कर नहीं पा रहे हैं। ऐसा नहीं है कि भारत के पुराने साहित्य पर कोई काम हो ही न रहा हो। अनेक भारतीय विद्या संस्थान विशेष तौर पर भारतीय ग्रंथों को देखने–समझने के लिए बने हैं, और अनेक ऊँचे विद्वान लंबे समय से इस काम में लगे हैं। पर जो काम हो रहा है वह तो जो होना चाहिए था, उससे ठीक उल्टा है। अपनी दृष्टि से अपने और आधुनिक विश्व को समझने की बजाय आधुनिकता की दृष्टि से अपने साहित्य को पढ़ा जा रहा है। अपने काल के संदर्भ में बीसवीं सदी को समझने की बजाय बीसवीं सदी के संदर्भ में अपने काल में से कुछ समसामयिक ढूँढ़ने के प्रयास हो रहे हैं। अपनी कोई तस्वीर बनाकर उसमें आधुनिकता को सही जगह बैठाने की बजाय आधुनिकता की तस्वीर में अपने लिए कोई छोटा–मोटा कोना ढूँढ़ा जा रहा है।

पिछले दो–एक सौ साल से पश्चिम वालों ने भारत के बारे में जानने की कोशिश की है। यहाँ की नीति को, रीति–रिवाजों को, धर्म–शास्त्रों को, आयुर्वेद, ज्योतिष और शिल्प जैसी विद्याओं और विधाओं को, इन सबको समझने के प्रयास पश्चिमी विद्वान करते रहे हैं। जैसी–जैसी उन लोगों की रुचि थी, जैसी उनकी समझ थी, और जैसी उनकी आवश्यकताएं–अनिवार्यताएं थी, वैसा–वैसा कुछ वे भारतीय साहित्य पढ़ते रहे हैं। उनकी देखा–देखी, या कहिए कि उनके प्रभाव में आकर, अपने यहाँ के कुछ आधुनिक विद्वान भी भारतीय विद्याओं और विधाओं में रुचि लेने लगे, और भारत के प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए अनेक नए–नए संस्थान खुलने लगे। महाराष्ट्र में कई ऐसे संस्थान बने। बंगाल में भी बने होंगे। कई नए संस्कृत विश्वविद्यालय भी खुले।

वे सब संस्थान, विद्यालय और विश्वविद्यालय आदि नए तरीके के ही थे। भारतीय विद्याओं को पढ़ने–पढ़ाने की जो पारंपरिक व्यवस्थाएं हुआ करती थीं उनके साथ इनका कोई संबंध नहीं था। पश्चिम व विशेषतः लंदन के उस समय के विद्या संस्थानों के अनुरूप ही भारत के इन नए

विद्या–संस्थानों का गठन किया गया था, और विद्याधाराओं से किसी प्रकार अपनी विद्याओं को जोड़ना ही शायद इनका प्रयोजन था। उदाहरण के लिए, वाराणसी में 'क्वींस कॉलेज' नाम का एक संस्थान वारेन हेस्टिंग्ज के समय में बना था। वही अब संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय कहलाता है। भारतीय विद्याओं का अध्ययन करने वाले प्रमुख भारतीय संस्थानों में उसकी गिनती होती है। ऐसे अनेक संस्थान बनते चले गए। अब भी इसी तरह के कई नए–नए संस्थान खुल रहे हैं।

पश्चिम की देखा–देखी में और पश्चिमी संस्थानों की तर्ज पर ये जो भारतीय विद्या संस्थान बने, उनमें पश्चिम के सारे पूर्वाग्रह और पश्चिम का पूरे–का–पूरा सैद्धांतिक ढाँचा प्रतिष्ठित हुआ। भारतीय विद्याओं पर भारतीय विद्वानों ने जो काम आरंभ किया, वह तो ऐसे था जैसे ये विद्वान कोई विदेशी लोग हों और किसी खोई हुई मृत सभ्यता के अवशेषों में से अपने काम आने योग्य कुछ ढूँढ़ रहे हों। यह काम वैसा ही था जैसा एंथ्रोपोलोजी में होता है। एंथ्रोपोलोजी पश्चिम की एक विशेष विद्या है। इस विद्या के प्रामाणिक प्रवक्ता और धुरंधर विद्वान माने जाने वाले क्लॉड लेवी स्ट्रॉस के अनुसार इस विद्या की विषय–वस्तु पराधीन, पराजित और खंडित समाज हुआ करते हैं। विजेता समाज विजित समाजों का अध्ययन करने के लिए जो उपक्रम करते हैं, वही एंथ्रोपोलोजी है। एंथ्रोपोलोजी की इस परिभाषा पर इस विद्या के विद्वत्समाज में कोई विशेष विवाद नहीं है। लेवी स्ट्रॉस धाकड़ विद्वान हैं, इसलिए वे अपनी बात स्पष्ट कह जाते हैं। बाकी विद्वान इसी बात को कुछ घुमा–फिराकर कहते होंगे। पर यह तो साफ है कि एंथ्रोपोलोजी के माध्यम से अपने ही समाज का अध्ययन नहीं हुआ करता, न पराजित और खंडित समाजों के विद्वान इस विद्या को उलटा कर विजेता समाजों का अध्ययन करने के लिए इसे बरत सकते हैं। पर भारतीय विद्वान भारतीय सभ्यता पर ही एंथ्रोपोलोजी कर रहे हैं। भारतीय साहित्य पर अब तक जितना काम हुआ है, और जो हो रहा है, वह सब ऐसा ही काम है। या तो एंथ्रोपोलोजी की जा रही है, या पश्चिम के एंथ्रोपोलोजी–विदों के लिए सामग्री जुटाई जा रही है।

ऐसा नहीं है कि इस काम में परिश्रम या बुद्धि न लगती हो। बहुत

विद्वता और बहुत मेहनत के काम अपने विद्वानों ने किए हैं। अभी कुछ बरस पहले महाभारत का टिप्पणी सहित एक संस्करण, अंग्रेजी में क्रिटीकल एडीशन, बनकर तैयार हुआ है। इसे बनाने में चालीस–पचास साल की मेहनत लगी होगी। ऐसे ही रामायण के संस्करण बने होंगे। वेदों और दूसरे अनेक ग्रंथों पर भी ऐसा काम हुआ होगा। फिर अनुवाद हुए हैं। संस्कृत, पाली, तमिल और बहुत–सी दूसरी भारतीय भाषाओं के कई ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। यूरोप की दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद किए गए हैं। यहाँ की भाषाओं में भी अनुवाद हुए हैं। गीता प्रेस गोरखपुर वाले तो बहुत सारे प्राचीन साहित्य का सरल हिन्दी अनुवाद कर उसे सामान्यजनों तक पहुँचाने का अथक प्रयास किए जा रहे हैं। गुजराती में भी बहुत से अनुवाद हुए हैं। यह सब हुआ है। और यह बहुत परिश्रम और विद्वता का काम ही हुआ है।

पर यह सारा काम भारतीय चित्त व काल की किसी अपनी समझ के धरातल से नहीं, पश्चिम की विश्वदृष्टि के आलोक में ही हुआ है। या फिर खाली भक्ति की रौ में बहकर कुछ पुण्य कमाने की दृष्टि से अनुवाद और टीकाएं होती गई हैं। इसलिए इन सब अनुवादों और संस्करणों आदि से भारतीयता की समझ के प्रखर होने की बजाय आधुनिकता के पूर्वाग्रह ही प्राचीन भारतीय इतिहास पर आरोपित होते चले गए हैं। आधुनिकता के हिसाब से भारतीय साहित्य का एक भाष्य–सा बनता चला गया है।

उदाहरण के लिए श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के पुरुष–सूक्त के अनुवाद व भाष्य को देखिए। उसमें उन्होंने ला दिया है कि ब्रह्मा के तप से जिस राज्य की अभिव्यक्ति हुई उसके ये–ये विभाग थे। पुरुष–सूक्त का भाष्य करते हुए राज्य के बीसियों विभाग उन्होंने गिना दिए हैं। मानो अंग्रेजी साम्राज्य के विभागीय अफसरशाही वाले राज्य की कल्पना ही पुरुष–सूक्त का संदेश हो। श्री सातवलेकर तो आधुनिक भारत के महर्षि जैसे माने जाते हैं। उनका परिश्रम, उनकी विद्वता और भारत की प्रज्ञा में उनकी निष्ठा सब ऊँची कोटि की थी। पर आधुनिकता के प्रवाह में वे भी ऐसा बहे कि उन्हें पुरुष–सूक्त में अंग्रेजी राज्य व्यवस्था का पूर्वाभास दिखाई देने लगा। भारतीय साहित्य पर जो बाकी काम हुआ है, वह भी कुछ ऐसा ही

है। उनका सार यही निकलता है कि आधुनिक पश्चिम में कोई विशेष वृत्ति या समझ है, तो वही वृत्ति, वही समझ अपने ग्रंथों में पहले से ही थी, और आधुनिक पश्चिम के मुकाबले अधिक सबल–स्पष्ट थी।

पिछले बीस–तीस सालों में ऐसा ही काम और ज्यादा होने लगा है। पर इस सबका क्या लाभ? दूसरों की समझ के अनुरूप, दूसरों के अनुरूप, दूसरों के मुहावरे में ही बातचीत करनी है तो अपने प्राचीन साहित्य को बीच में क्यों घसीटा जाए ? बीसवीं सदी की पश्चिमी आधुनिकता को ही प्रतिपादित करना है तो उसके लिए अपने पूर्वजों को साक्षी बनाने की जरूरत नहीं है। अपने पूर्वजों और उनका साहित्य तो अपने भारतीय चित्त व काल के ही साक्षी हो सकते हैं। उन्हें पश्चिमी आधुनिकता का साक्षी बनाकर खड़ा करना तो अनाचार ही है।

अपने यहाँ प्राचीन साहित्य पर होने वाले काम का एक और उदाहरण देखिए। पिछले बहुत समय से, शायद सौ–एक बरस में, हमारे विद्वान लोग इस देश की विभिन्न विद्याओं की विभिन्न भाषाओं में ज्ञात पांडुलिपियों की उपलब्ध सूचियों का एक संकलन बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इस संकलन को बनाने वाले विद्वानों ने लंबी मेहनत के बाद यह जाना है कि संस्कृत, प्राकृत, पाली, तमिल आदि भाषाओं की ज्ञात पांडुलिपियों की दो हजार के लगभग सूचियाँ या कैटालॉग हैं। ये दो हजार कैटालॉग शायद सात–आठ सौ अलग–अलग स्थानों से संबंधित हैं। इनमें से सौ–दो सौ स्थान भारत से बाहर के होंगे। यह केवल कैटालॉगों या सूचियों की बात है। मान लिया जाए कि प्रत्येक सूची में सौ–दो सौ के लगभग पांडुलिपियाँ होंगी, इसका तो अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता।

अब यह कितनी मेहनत, कितनी विद्वता का काम है ? सात–आठ सौ स्थानों पर रखी पांडुलिपियों को इकट्ठा कर उनकी एक लंबी समन्वित सूची बनाना कोई आसान काम तो नहीं रहा होगा। लेकिन हम क्या करेंगे इस सबका ? दो–चार लाख पांडुलिपियों की जो यह समन्वित सूची है वह हमारे किस काम आएगी ? यह सूची तो पिछले सौ–डेढ़ सौ साल में संकलित हुई है। कुछ विदेशियों ने बनाई है, कुछ हमारे विद्वानों ने बनाई है। पर हमें तो यह भी नहीं मालूम कि इस सूची में जो पांडुलिपियाँ दर्ज हैं उनमें से

कितनी अभी बची हैं और कितनी को खोलकर, अभी भी पढ़ा जा सकता है। इनमें से कितनी माइक्रो फिल्म हो सकती हैं इसका तो शायद कोई ठीक अंदाजा नहीं है।

जिन पांडुलिपियों को पढ़ा ही नहीं जा सकता तो उनकी ये सूचियाँ हम किसलिए बना रहे हैं? वैसे तो ऐसा माना जाता है कि भारतीय भाषाओं की कुल पचास करोड़ के आस–पास पांडुलिपियाँ इधर–उधर पड़ी होंगी। जो साहित्य हमारे पास आसानी से उपलब्ध है उसी को हम देख–समझ नहीं सकते तो इन पचास करोड़ की बात तो निरर्थक ही है।

यह ठीक है कि विद्वता के क्षेत्र में ऐसे काम भी हुआ करते हैं। ठीक–ठाक चलते समाजों में ऐसी विद्वता समा भी जाती है। जिन पंडित लोगों को कवित्त ही करने होते हैं, उन्हें अपने कवित्त करने दिया जाता है। और सक्षम समाज इस प्रकार की विद्वता को भी कभी–न–कभी कहीं काम पर लगा देते हैं। लेकिन उन समाजों में भी अधिकतर काम तो मुख्य धारा में, एक विशेष दिशा में, एक–दूसरे को समर्थन देते हुए, एक–पर–एक को जोड़ते हुए ही किए जाते हैं। हमारे यहाँ तो भारतीय विद्या पर होने वाले कामों की कोई मुख्य धारा ही नहीं है, कोई दिशा ही नहीं है। सारे का सारा काम ही जैसे कोई मानसिक ऐयाशी हो।

पर हमारे पास तो इस तरह की ऐयाशी के लिए न साधन हैं, न समय। हमें अपने चित्त व काल को समझना है, अपने दो पैरों पर खड़े होने के लिए कोई धरातल बनाना है, तो इस तरह की दिशाहीन विद्वता से कुछ नहीं बनेगा। उसके लिए तो अपने पूरे साहित्य को देख–समझकर जल्दी से एक मोटा–मोटा चित्र बनाना होगा। बाद में उस चित्र में विभिन्न रंग भरते जाएंगे, रेखाएं सुस्पष्ट होती जाएंगी। पर हमें अपनी दृष्टि से अपने को और विश्व को देखने की एक दिशा तो मिल जाएगी, अपना कोई धरातल तो होगा। अपनी दिशा ढूँढ़ने के काम कोई सदियों में नहीं किए जाते। ये काम तो दो–चार साल में पूरे किए जाते हैं, और ऐसे किए जाते हैं कि छह–सात महीनों में ही अपनी कोई रूपरेखा उभरने लगे।

अपने पुराने साहित्य का अध्ययन कर इस तरह की कोई रूपरेखा बना लेने की बात जब मैं करता हूँ तो मित्र लोग कहते हैं कि भई आप इसमें

मत पढ़िए। यह तो समझ नहीं आएगा। इसे जानने के लिए तो संस्कृत पढ़नी पड़ेगी। अंग्रेजी में पढ़कर या हिन्दी में पढ़कर तो सब गलत ही समझ बनेगी। पढ़ना ही है तो संस्कृत पढ़ो। पहले संस्कृत सीख लो।

लेकिन संस्कृत जानने वाले कितने लोग हैं इस देश में ? यहाँ तो अब संस्कृत में डॉक्टरेट भी संस्कृत सीखे बिना ही मिल जाती है, अंग्रेजी में प्रबंध–ग्रंथ लिखकर ही संस्कृत की डॉक्टरेट हो जाती है। अब संस्कृत पढ़ने वाले विद्वान तो शायद जर्मनी में ही मिलते हैं। जापान के कुछ विद्वान भी पढ़ते होंगे। रूस–अमेरिका वाले भी शायद पढ़ते हों। हमारे यहाँ के आधुनिक विद्वानों में तो संस्कृत में कोई विशेष लिखना–पढ़ना नहीं होता। हजार–पाँच सौ संस्कृत जानने वाले पंडित शायद बचे हों, इधर–उधर। लेकिन यह संभव है कि पारंपरिक विद्याधाराओं से जुड़े परिवारों में चार–छह लाख लोग अभी भी संस्कृत समझ व पढ़ सकते हों।

सुबह आकाशवाणी में जो समाचार आते हैं उन्हें सुनने–समझने वाले भी शायद ज्यादा नहीं हैं। मैंने श्री रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर से एक बार पूछा था कि इन समाचारों को सुनने वाले दस लाख लोग होंगे क्या ? वे बुजुर्ग थे, विद्वान थे, लंबे समय तक जनजीवन में रहे थे। उनका कहना था कि नहीं, इतने लोग तो नहीं सुनते होंगे। पिछले दिनों तमिल पत्र दिनमनी के पूर्व संपादक और वयोवृद्ध विद्वान श्री शिवरमण से भेंट हुई, उनसे मैंने पूछा कि दक्षिण में तो संस्कृत पढ़ने–पढ़ाने की परंपरा रही है, यहाँ ठीक से संस्कृत जानने वाले कितने होंगे ? उनका कहना था कि एक भी नहीं। फिर कहने लगे हो सकता है हजारेक लोग निकल आएं जो अच्छी संस्कृत जानते हों। इससे ज्यादा तो नहीं।

तो अपने देश में अगर संस्कृत की यह अवस्था है, संस्कृत यहाँ रही ही नहीं, संस्कृत जानने वाले ही नहीं रहे तो अपने चित्त व काल की रूपरेखा बनाने के लिए हम संस्कृत के लौट आने की प्रतीक्षा तो नहीं कर सकते। जिस अवस्था में हम हैं, वहीं से चलना पड़ेगा। जो भाषाएं हमें आती हैं, उन्हीं के माध्यम से कुछ जानना पड़ेगा। विद्वता का शायद यह तरीका न होता हो। पर अभी आवश्यकता प्रकांड विद्वता की नहीं, किसी प्रकार इस भटकाव से बाहर निकलने की है। अपनी कोई दिशा ढूँढ़ने की है। स्थिर

होकर खड़े होने और अपने ढंग से विश्व को समझने के लिए धरातल तैयार करने की है। वह धरातल तैयार हो जाएगा तो प्रकांड विद्वता के लिए भी रास्ते निकल आएंगे। संस्कृत पढ़ने–सीखने का भी सुभीता हो जाएगा। उस सबके लिए समय है। पर अपना धरातल ढूँढ़ने के काम को पूरा करने के लिए तो बहुत समय अपने पास नहीं है। कितनी देर तक एक पूरी सभ्यता अधर में लटकी खड़ी रह सकती है ?

महत्व सही जवाब का नहीं, सही सवाल का है

हमारे पैरों के नीचे अपनी कोई जमीन नहीं है। अपने चित्त व काल का अपना कोई चित्र नहीं है। अपनी कोई विश्वदृष्टि नहीं है। इसलिए ठीक–ठाक चलने वाले समाजों के लोग जो बातें सहज ही जान जाते हैं, वही बातें हमें भूल–भूलैया में डाले रखती हैं। राज, समाज व व्यक्ति के आपसी संबंध क्या होते है ? किन–किन क्षेत्रों में इनमें से किस–किस की प्रधानता होती है ? व्यक्ति–व्यक्ति के बीच संबंधों के आधार क्या हैं ? शील क्या होता है ? शिष्ट आचरण क्या होता है ? शिक्षा क्या होती है ? सौंदर्य क्या होता है ? इस प्रकार अनेक प्रश्न हैं, जिनके उत्तर एक स्वस्थ समाज में किसी को खोजने नहीं पड़ते। अपनी सहज परंपरा से जुड़े और चित्त व काल के अनुरूप चल रहे समाजों में ये सब बातें अपने–आप परिभाषित होती चली जाती हैं। पर हम क्योंकि अपने मानस व काल की समझ खो बैठे हैं, अपनी परंपरा के साथ जुड़े रहने की कला भूल गए हैं, इसलिए ऐसे सभी प्रश्न हमारे लिए सतत खुले पड़े हैं। देश के साधारण लोगों में सही चिंतन व सही व्यवहार का कोई सहज विवेक शायद अभी भी बचा ही होगा। लेकिन उन लोगों में भी अब अक्सर दुविधा ही दिखाई देती है। पर अपने भद्र समाज में तो हर स्थान पर हर संदर्भ में विस्मृति और भ्रांति जैसी स्थिति बनी हुई है। सही–गलत का जैसे कोई विवेक ही न बचा है।

मुझे कुछ साल पुरानी एक घटना याद आ रही है। तब आंध्र–प्रदेश के उस समय के राज्यपाल शृंगेरी के शंकराचार्य से मिलने गए थे। बातचीत में वर्ण व्यवस्था का कोई संदर्भ आया होगा और शृंगेरी आचार्य इस व्यवस्था के बारे में कुछ बताने लगे होंगे। इस पर राज्यपाल ने आचार्य से कहा कि वर्ण व्यवस्था की बात तो आप मत ही करें। शृंगेरी के शंकराचार्य यह सुनकर चुप हो गए। बाद में वे अपने अनुज आचार्य से बोले कि देखो कैसा समय आ गया है ? वर्ण पर अब बात भी नहीं की जा सकती।

यह कैसी विचित्र घटना है ? बात वर्ण व्यवस्था के सही या गलत होने की नहीं थी। लेकिन राज्यपाल का इस विषय पर चर्चा ही वर्जित करना तो अजीब है। अपनी परंपरा और अपने मानस को समझने वाले किसी समाज में इस तरह की बातचीत की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राज्यपाल इतना भी नहीं समझते थे कि समाज संरचना के बारे में धर्माचार्यों को अपने मन की बात कहने से रोका नहीं जाता। और शृंगेरी आचार्य भी शायद भूल गए थे कि वे किसी राज्य के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। उनका उत्तरदायित्व तो अपनी परंपरा और अपने समाज तक ही सीमित है। अपनी करते रहना उनका कर्तव्य है। वे किसी राज्यपाल को इस अभिव्यक्ति को परिसीमित करने की छूट कैसे दे सकते हैं ?

आचार–व्यवहार में सहज विवेक न रख पाने के बहुत से प्रसंग मिलेंगे। श्री पुरुषोत्तम दास टंडन देश के बहुत बड़े और विद्वान नेता थे। स्वराज की लड़ाई में उनकी भागीदारी किसी और से कम नहीं थी। अहिंसा में उनका अटूट विश्वास था। और अहिंसा–पालन की दृष्टि से वे किसी मोची के हाथ के गढ़े चमड़े के जूते पहनने की बजाय बाटा के बने रबड़ के जूते पहनते थे। इसी विचार के और बहुत से लोग रहे होंगे। अब, जीव–हत्या के बारे में इतना सजग रहने की बात तो निश्चित ही बड़ी है। पर अहिंसा केवल जीव–हत्या के निरोध का सिद्धान्त तो नहीं है। अहिंसा एक व्यापक जीवन–दृष्टि का अंग है। और उस जीवन–दृष्टि के अनुसार अपनी आवश्यकताओं को घटाते जाना और जो घटाई न जा सकें, उन सभी आवश्यकताओं को अपने आस–पड़ोस के परिवेश से ही पूरा कर लेना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना जीव–हत्या से बचना। इसीलिए महात्मा गाँधी के लिए अहिंसा और स्वदेशी के सिद्धांत एक ही थे। अपने पड़ोस के मोची को छोड़कर बाटा वालों से रबड़ का जूता बनवाने की बात तो अहिंसा और स्वदेशी वाली इस जीवन–दृष्टि के न तत्वबोध से मेल खाएगी, न सौंदर्यबोध से ही।

ग्रामोद्योग और खादी आदि को बढ़ावा देने के लिए हजारों मील दूर बना विशेष सामान बरतने की जो प्रवृत्ति हमारे कुछ भद्र लोगों में आजकल चली है वह भी किसी भी बात के सनातन तत्व और समय–सापेक्ष

बाह्य स्वरूप में विवेक न कर पाने का ही उदाहरण है। खादी और ग्रामोद्योग आदि तो स्वदेशी के भाव के बाह्य उपकरण मात्र थे। मूल बात तो समाज की जरूरतों को आस–पड़ोस के साधनों और क्षमताओं के माध्यम से पूरा कर लेने की वृत्ति की थी। वह वृत्ति स्वदेशी का तत्व था। उस तत्व को छोड़ हम केवल उपकरणों की पूजा में लग गए हैं।

पर ये तो शायद व्यक्तिगत आचरण भर की बातें हैं। इन बातों में व्यक्तियों से भूल हो जाती होगी। पर हम तो शिक्षा जैसे सामूहिक विवेक के विषय में भी ऐसे ही भूले हुए दिखते हैं। अभी पिछले दिनों सारनाथ में एक गोष्ठी हुई थी। उस गोष्ठी में अनेक विद्वान इकट्ठे हुए थे, विद्यालयों के कुलपति थे, दर्शन शास्त्र के ऊँचे प्रोफेसर थे, बड़े–बड़े साहित्यकार थे। वे सब शिक्षा के विषय पर विचार करने के लिए वहाँ पहुँचे थे। सुंदर जगह थी। सारनाथ में बौद्ध ज्ञान का एक बहुत बड़ा संस्थान है, तिब्बतन इंस्टीट्यूट। उसी संस्थान में यह गोष्ठी हो रही थी। और संस्थान के निर्देशक, सम्धोंग रिन–पो–छे, जो स्वयं बहुत ऊँचे विद्वान हैं, वे भी गोष्ठी में बराबर बैठे थे। (तिब्बत में सबसे बड़े आचार्य रिन–पा–छे कहलाते हैं, दलाईलामा भी।)

गोष्ठी के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठा कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं, उसकी कोई परिभाषा है क्या ? मैंने ही प्रश्न उठाया कि हम किसे शिक्षा कहते हैं ? लिखने–पढ़ने की कला ही शिक्षा है क्या? या कुछ और है ? उस समय तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। पर बाद में चौथे दिन, गोष्ठी समाप्त होने से कुछ ही पहले, श्री सम्धोंग रिन–पो–छे से बोलने के लिए कहा गया तो वे इस प्रश्न की ओर मुड़े। उन्होंने कहा कि इस गोष्ठी में चार दिन जो बातें होती रही हैं, उन्हें मैं तो कुछ समझ नहीं पाया, क्योंकि मैं तो इस 'एजुकेशन' शब्द के अर्थ ही नहीं जानता। वैसे अंग्रेजी मुझे ज्यादा आती भी नहीं। हाँ, 'शिक्षा' शब्द को तो मैं समझता हूँ। और हमारे यहाँ इस शब्द का अर्थ प्रज्ञा, शील और समाधि के ज्ञान से होता है। इन तीन को जानना शिक्षा है। बाकी जो तकनीकें हैं, भौतिक विज्ञान हैं, शिल्प और कलाएँ आदि हैं, वे शिक्षा में नहीं आतीं। वे कुछ दूसरी चीजें हैं। उन्हें हमारे यहाँ शिक्षा नहीं माना जाता।

शिक्षा की यह परिभाषा यदि सही है, यदि प्रज्ञा, शील और समाधि के ज्ञान को ही अपने यहाँ शिक्षा माना गया है, तो इसे तो समझना पड़ेगा न ? और यह भी देखना पड़ेगा कि इस दृष्टि से हमारे यहाँ कितने लोग शिक्षित हैं। हो सकता है बहुत नहीं हों। हो सकता है केवल आधा प्रतिशत लोग ही प्रज्ञा, शील और समाधि में शिक्षित हों, या शायद पाँच प्रतिशत तक ऐसे लोग निकल आएं। लेकिन मान लीजिए कि आधा प्रतिशत ही शिक्षा की इस परिभाषा की कसौटी पर शिक्षित निकलते हैं। पर ये आधा प्रतिशत भी बाकी संसार में प्रज्ञा, शील और समाधि को जानने वालों के मुकाबले पाँच–दस गुना अधिक बैठते होंगे। शिक्षा की अपनी इस मान्यता के अनुसार हम विश्व के सबसे अधिक शिक्षित लोगों में से होंगे।

या फिर प्रज्ञा, शील और समाधि के ज्ञान को हम शिक्षा नहीं मानते। शायद आचरण और व्यवहार की कला को, जीविका चला पाने की क्षमता को हम शिक्षा मानते हैं। उस दृष्टि से देखें तो भारत के ६०–६५ प्रतिशत लोग शिक्षित ही निकलेंगे। और अधिक भी शिक्षित हो सकते हैं। पर हो सकता है कि इस दृष्टि से देखने पर हम जैसे ५ प्रतिशत लोग कुछ अशिक्षित ही निकलें। क्योंकि हम जैसों को तो न आचरण आता है, न व्यवहार आता है, न जीविका चलाने की कोई कला आती है।

लेकिन शायद हम आचरण, व्यवहार और काम–धंधे चलाने की क्षमता को भी शिक्षा नहीं मानते। अक्षर ज्ञान को ही शिक्षा मानते हैं, और उस दृष्टि से देखकर पाते हैं कि भारत के ६०, ७० या ८० प्रतिशत लोग अशिक्षित ही हैं। लेकिन शिक्षा के माध्यम से कैसा अक्षर–ज्ञान हम लोगों तक पहुँचाना चाहते हैं ?

मान लीजिए किसी को खाली भोजपुरी ही लिखनी–पढ़नी आती है। उसे हम शिक्षित मानेंगे या अशिक्षित ? शायद वह हमें अशिक्षित ही दिखाई देगा। हम कहेंगे कि भई इसे अक्षर ज्ञान तो है, पर भोजपुरी का अक्षर–ज्ञान तो कोई अक्षर–ज्ञान न हुआ। इसे तो अच्छी नागरी हिंदी भी नहीं आती। नागरी हिंदी न आए तब तक हम इसे शिक्षित कैसे मान लें ?

पर फिर कोई कहेगा कि खाली नागरी हिंदी से भी क्या होता है, अच्छी संस्कृत आनी चाहिए। कोई और कहेगा कि संस्कृत से भी कैसे

चलेगा ? अंग्रेजी आनी चाहिए, और वह भी शेक्सपीयर वाली ही आनी चाहिए। या आक्सफोर्ड में जो अंग्रेजी पढ़ाई जाती है, या बीबीसी पर जो बोली जाती है, वही अंग्रेजी आनी चाहिए। फिर कोई कहेगा कि हाँ वैसी अंग्रेजी तो इसे आती है। पर अमेरिका में तो यह अंग्रेजी बेकार है। अमेरिका वालों की तो अंग्रेजी ही दूसरी है, और आज संसार में जो चल रही है वह तो अमेरिकी अंग्रेजी है। वह इसे नहीं आती तो इसे अक्षर–ज्ञान तो नहीं हुआ ठीक से। इसे शिक्षित कैसे मान लें ?

इस सबके बाद अब हममें से कुछ अमेरिकी–अंग्रेजी सीख जाएंगे तो कोई और कहेगा भई अब तो अमेरिका वालों के दिन भी लद गए। अब तो किसी और के दिन आ रहे हैं। शायद जर्मनी वालों के आ रहे हों, या शायद रूसियों के ही आ रहे हों। हो सकता है कि अफ्रीका वालों में से किसी के दिन आ जाएं। या अरबों के ही आ जाएं। तब हम कहेंगे कि उनकी जो भाषा है उसका अक्षर–ज्ञान हो, तो हम अपने लोगों को शिक्षित मानेंगे। उसके बिना तो हम सब अशिक्षित ही हैं।

यह हम किस चक्कर में फँस गए हैं ? इस तरह दुनिया की बहती हवाओं के साथ झुक–झुककर हम कहाँ पहुँचेंगे ? हमें इस चक्कर से निकलना है तो अपना कोई स्थिर धरातल खोजना पड़ेगा। अपने चित्त व काल को समझकर, अपने साहित्य की संपूर्णता का अनुमान–सा लगाकर, एक सैद्धांतिक ढाँचा तो हमें बनाना ही पड़ेगा, ताकि सही–गलत के विवेक का कोई आधार हमें मिल जाए। आचरण की, व्यवहार की, और रोजमर्रा के विभिन्न संबंधों की कुछ सहज परिभाषाएं हो पाएं। अपने हिसाब से चल निकलने का कोई रास्ता निकल पाए।

हो सकता है कि जो सैद्धांतिक ढाँचा हम बनाएँगे, वह बहुत सही या बहुत टिकाऊ नहीं होगा। शायद पाँच–सात साल में उसे बदलना पड़ेगा। पर सैद्धांतिक ढाँचे तो सब ऐसे ही होते हैं। ये सब तो व्यक्ति के अपने उपक्रम हैं, परमात्मा के दिए सनातन सत्य जैसे तो वे हो नहीं सकते। सैद्धांतिक ढाँचे दुरस्त होते रहते हैं, बदलते रहते हैं। भौतिक विज्ञान के मूल सिद्धांत बदल जाते हैं, राजनीति विज्ञान की मौलिक परिभाषाएँ बदल जाती हैं, दर्शन–शास्त्र की दिशा बदल जाती है। इस सबमें सनातन तो कुछ नहीं

होता। और यदि कुछ सनातन होता है, सैद्धांतिक ढाँचे के आधार में कुछ मूलभूत सत्य होता है, तो वह सनातन सत्य ढाँचे के बदल जाने से प्रभावित नहीं हुआ करता। वह तो रह ही जाता है। पर संसार के काम अस्थायी, काम–चलाऊ सैद्धांतिक ढाँचों के आधार पर ही चला करते हैं। वैसा ही एक काम–चलाऊ ढाँचा हमें अपने चित्त व काल की अपनी समझ का भी बना लेना है।

और यह काम हमें स्वयं ही करना पड़ेगा। बाहर वाले आकर हमें ऐसा कोई ढाँचा बनाकर नहीं दे सकते जो हमारे सहज चित्त व काल के अनुरूप बैठता हो। वे चाहते हों तो भी यह काम नहीं कर पाएंगे। ये काम तो यहीं के लोगों को करने हैं।

भारत के सनातन सत्य का कोई छोर पकड़ लाने की बात मैं नहीं कर रहा। बात तो कोई ऐसा धरातल तैयार करने की है जहाँ खड़े होकर सही प्रश्न पूछे जा सकें। प्रश्न उठाने लगेंगे तो उत्तर भी निकलते आएंगे। या शायद उत्तर नहीं मिलेंगे। पर प्रश्नों के उठने से सही रास्ते का कुछ विवेक तो होने लगेगा। सामान्य आचार–व्यवहार में भ्रांति की स्थिति तो नहीं रहेगी।

मद्रास के श्री शिवरमण तो कहते हैं कि प्रश्न पूछते जाना ही भारतीय सत्य–साधना का मूल है। उनका मानना है कि उपनिषदों में उत्तर तो कोई बहुत ठीक नहीं हैं, पर प्रश्न बहुत बड़े हैं। स्मृतियों में भी उनका कहना है कि प्रश्न बहुत ऊँचे हैं। और फिर अपने सभी प्राचीन ग्रंथों में प्रश्नोत्तर के माध्यम से ही तो सब कुछ कहा जाता है।

बाल्मीकि रामायण में एक प्रसंग है। रामचंद्रजी जब चित्रकूट से आगे बढ़ते हैं तो रास्ते में खूब अस्त्र–शस्त्रों से लैस होते चले जो हैं। तब सीता उन्हें कहती हैं कि यह क्या हो गया है आपको ? वन में तो ऐसे नहीं रहा जाता। आप तो हिंसा की ओर बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। यह तो अच्छा नहीं है। रामचंद्रजी सीता की बात का जवाब जरूर देते हैं। पर वह कच्चा–सा जवाब है। महत्व सीताजी के प्रश्न का ही है। उत्तर का नहीं। बात हिंसा–अहिंसा की वृत्तियों पर और उनके सही संदर्भों पर चिंतन करने की है, किसी अंतिम समाधान पर पहुँचने की नहीं।

ऐसे ही नारदपुराण में महर्षि भरद्वाज और भृगु के बीच एक संवाद है। भरद्वाज पूछते हैं कि आपके अनुसार चतुर्वर्ण–व्यवस्था में एक वर्ण दूसरे वर्ण से सर्वथा भिन्न होता है। पर इस भिन्नता का आधार क्या है ? टट्टी, पेशाब और पसीना तो सभी को आता है। रक्त, पित्त और कफ आदि भी सभी के शरीर में रचे रहते हैं। फिर उसमें भिन्नता कैसी है ? भृगु कहते हैं कि आरंभ में तो सभी एक वर्ण थे। फिर अपने–अपने कर्मों से वे भिन्न होते गए। फिर भरद्वाज पूछते हैं कि कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र कैसे बनता है ? भृगु कहते हैं कि कर्मों और गुणों से ही इस प्रश्न का निर्णय होता है। और इस तरह संवाद चलता रहता है।

यहाँ भी प्रश्न का कोई अंतिम समाधान तो नहीं हुआ। पर समाज संरचना के बारे में प्रश्न पूछते रहने, इस विषय पर चिंतन करते रहने, और समय व संदर्भ के अनुरुप कुछ स्थायी–अस्थायी समाधान निकालते रहने का यह तरीका ही शायद भारतीय तरीका है। इसमें महत्व सही सनातन उत्तर पाने का नहीं, सही सटीक प्रश्न उठाने का है। प्रश्न उठाते रहने के उस तरीके को हमने कहाँ खो दिया है ? उन बड़े प्रश्नों को उठाना ही हम एक बार फिर शुरू कर दें तो हमारा सहज विवेक लौट ही आएगा।

अपने चित्त को समझे बिना हमारा काम नहीं चलेगा

अपने चित्त, मानस व काल का सहज धरातल हमसे छूट गया है। अपने संसार को छोड़ किन्हीं और के संसार में हम रहने लगे हैं। पर उस दूसरे संसार में जीना हमें आता नहीं। उसमें हम समा नहीं पाते। हमारे बड़े–बड़े राजनेताओं से, विद्वानों से और व्यापारियों आदि से भी यह नहीं हो पाता कि वे दूसरों के उस संसार में रच–पच जाएँ। प्रयास वे अवश्य करते हैं, और उस प्रयास में वे प्रायः असफल होते हैं, क्योंकि जिस संसार में वे समाना चाहते हैं, वह उनका है ही नहीं। उस संसार की कोई ठीक समझ भी उन्हें नहीं हो सकती।

अपने संसार में लौटे बिना, अपने सहज चित्त, मानस व काल के धरातल को ढूँढ़े बिना, अपना काम चलने वाला नहीं है। भारतीय चित्त में जो अंकित है और उसका काल के साथ जो संबंध है, वह भारतीय सभ्यता में कई प्रकार से अभिव्यक्त हुआ होगा। उन अभिव्यक्तियों को देखने–समझने से अपने चित्त व काल का चित्र तो उभरेगा। भारतीय सभ्यता का जो पुराना साहित्य है उसे भी भारतीय चित्त व काल की एक अभिव्यक्ति के रूप में ही देखा जाना चाहिए। उस साहित्य में शायद भारतीयता की, सहज भारतीय चित्त व काल की बहुत विशद झलक मिल जाए।

यह सही है कि भारतीय साहित्य में जो है, वह सब–का–सब सीधे चित्त व काल के स्वरूप से संबंधित नहीं होगा। इस विशाल साहित्य में अनेक विषयों पर अनेक प्रकार की बातें हैं। पर वे सब बातें भारतीय चित्त व काल के सहज धरातल से, संसार की भारतीय समझ के अनुरूप और भारतीय मुहावरे में ही की गई होंगी। फिर जो बातें इस साहित्य में बहुत मौलिक दिखाई देती हैं, जो सारे कथ्य का आधार–सा लगती हैं, और जो विभिन्न प्रकार के साहित्य में बार–बार दोहरायी जाती हैं, वे बातें तो शायद

भारतीय चित्त व काल की सहज वृत्तियों की परिचायक ही होंगी।

जैसे पुराणों में सृष्टि के सर्जन और विकास की कथा है। उसका तो भारतीय चित्त व काल के साथ सीधा संबंध दिखाई देता है। वैसे हर सभ्यता की सृष्टि की अपनी एक गाथा होती है, और वह गाथा शायद उस सभ्यता की मूल वृत्तियों को बहुत गहराई से प्रभावित किया करती है। आदम और हव्वा की कथा, उनका ज्ञान के ही माध्यम से निरंतर उसी स्वर्ग को रचते जाना, उसकी ओर आगे ही आगे बढ़ते जाना – यह पश्चिमी गाथा शायद वहाँ की सारी सोच–समझ को प्रभावित किए रहती है। वहाँ के सारे साहित्य में, और आधुनिक ज्ञान–विज्ञान व तकनीक आदि में भी उनकी सृष्टि की इस गाथा की झलक देखी जा सकती है।

पुराणों की सृष्टि की जो गाथा गाई गई है वह तो अपने–आप में बहुत सशक्त है। इस गाथा के अनुसार ब्रह्म के तप व संकल्प से सृष्टि का सर्जन होता है, और फिर यह अनेकानेक आवर्तनों से होती हुई, वापस ब्रह्म में लीन हो जाती है। ब्रह्म से सर्जन और ब्रह्म में प्रलय का यह बड़ा आवर्तन एक निश्चित कालक्रम के अनुरूप दोहराया जाता रहता है। पर प्रत्येक बड़े आवर्तन के भीतर अनेक छोटे आवर्तन–प्रत्यावर्तन होते रहते हैं, बार–बार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है। 'उत्पत्ति' और 'विनाश' शब्द शायद इस संदर्भ में उपयुक्त नहीं हैं। क्योंकि ब्रह्म सृष्टि का सर्जन करते हुए अपने से बाहर किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं करते हैं, वे तो स्वयं सृष्टि के रूप में अभिव्यक्ति होते हैं। ब्रह्म की वह अभिव्यक्ति ही सृष्टि है और उस अभिव्यक्ति का संकुचन ही प्रलय है। ब्रह्म के व्यास और संकुचन की ही यह सब लीला है। इसके अतिरिक्त न किसी वस्तु या भाव की उत्पत्ति होती है, न विनाश। ब्रह्म की इस लीला का आभास शायद प्रत्येक भारतीय के चित्त में अंकित रहता है। पुराणों में इस लीला का जो सुव्यवस्थित कालक्रम दिया गया है उसकी जानकारी शायद बहुतों को न हो। पर ब्रह्म की यह लीला अनादि और अनंत है यह विचार प्रायः भारतीयों के चित्त में रहता ही है।

सृष्टि और प्रलय के आवर्तनों की इस लीला में आवर्तन का मौलिक कालांश चतुर्युग है। सृष्टि का प्रत्येक नया आवर्तन कृत युग से आरंभ होता

है। और सृष्टि का यह आरंभिक काल आनंद का काल है। इस युग में जीव शायद अभी ब्रह्म से बहुत दूर नहीं हुआ है। जीव–जीव में तो कोई भिन्नता है ही नहीं। सभी एक वर्ण हैं या वर्ण की अभी बात ही नहीं हैं।

इस युग में सृष्टि अभी बहुत सहज रूप में है। कहीं कोई जटिलता नहीं है। मद, मोह, लोभ, अहंकार जैसे भाव अभी उत्पन्न ही नहीं हुए। 'काम' भी नहीं है। संतानोत्पति मात्र संकल्प से ही होती है। जीवन की आवश्कताएं बहुत कम हैं। जीवन चलाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। 'मधु' पीकर ही सब जीवित रहते हैं। यह 'मधु' भी सहज प्राप्य है। मधुमक्खियों के प्रयत्न से बना मधु यह नहीं है। इस सहज आनंदमयी सृष्टि में ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं है। इसलिए वेद भी अभी नहीं हैं।

आनंद का यह युग बहुत लंबे समय तक चलता है। पौराणिक गणना के अनुसार कृत का काल १७,२८,000 बरस का है। पर समय के साथ सृष्टि जटिल होती चली जाती है। सहज व्यवस्था में गड़बड़ होने लगती है। धर्म की हानि होने लगती है। कृत युग में ही कर्ता के विभिन्न अंशावतारों को आकर सृष्टि में धर्म की पुनर्स्थापना के प्रयास करने पड़ते हैं। विष्णु के भी अवतार होते हैं। और कृत युग में ही धर्म की हानि और उसकी पुनर्स्थापना का कम कई बार दोहराया जाता है। पर लगता है कि धर्म की ग्लानि और उसके पुनः प्रतिष्ठापन के हर कम के बाद सृष्टि पहले से कुछ अधिक जटिल होती जाती है, आनंद की मूल स्थिति से कुछ और दूर हटती जाती है, जीवन में कुछ और गिरावट आती जाती है। और इस तरह चलते–चलते कृत का अंत होता है और त्रेता का आरंभ।

त्रेता में सृष्टि उतनी सहज नहीं रह जाती जितनी कृत में थी। कृत में धर्म चार पाँवों पर स्थिरता से टिका था। त्रेता में उसके तीन ही पाँव रह जाते हैं। अपेक्षाकृत अस्थिरता की इस स्थिति में धर्म पर टिके रहने के लिए मानव को राज्य व ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसलिए त्रेता के आरंभ में ही मानव को एक राजा और एक वेद की प्राप्ति होती है। मद, मोह, लोभ, अहंकार आदि जैसे मनोविकारों की उत्पत्ति भी इसी समय होती है। पर अभी ये विकार प्राथमिक अवस्था में ही हैं और उन्हें आसानी से नियंत्रित

किया जा सकता है।

त्रेता में जीवन की आवश्कताएँ बढ़ने लगती हैं। मात्र 'मधु' से अब काम नहीं चलता। पर कृषि अभी नहीं होती। हल चलाने, बीज-बोने, निराई-गुड़ाई आदि जैसी क्रियाओं की अभी जरूरत नहीं। अपने-आप कुछ अनाज पैदा होता है। उस अनाज से, और वृक्षों के फलों और मेवों आदि से जीवन चलता है। वृक्षों की भी बहुत जातियाँ नहीं हैं। कुछ गिनी-चुनी वनस्पतियाँ और वृक्ष ही अभी सृष्टि में पाए जाते हैं।

सीमित आवश्कताओं के इस युग में मानव कुछ कला, कौशल व तकनीकें सीखने लगता है। सहज पैदा होने वाले अनाज और फलों आदि को एकत्रित करने के लिए कुछ कला-कौशल चाहिए। फिर घर-बार, गाँव और नगर आदि बनने लगते हैं। इनके लिए और कलाओं व तकनीकों की आवश्यकता हुई होगी।

सृष्टि की इस बढ़ती जटिलता के साथ जीव-जीव में विभिन्नता आने लगती है। त्रेता में मानव तीन वर्णों में बँट जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों त्रेता में उपस्थित हैं। पर शूद्र अभी नहीं बने। इस विभिन्नता और विभाजन के कारण भी जीव-जीव में संवाद व संपर्क में कोई व्यवधान अभी नहीं दीखता। मानव और अन्य जीवों के बीच भी संवाद चलता रहता है। बाल्मीकि रामायण में वर्णित घटनाएँ त्रेता के अंत में घटती हैं। श्रीराम का वानरों, भालुओं और पक्षियों आदि को अपनी सहायता के लिए बुलाना, और उनका श्रीराम के साथ मिलकर महाबली और प्रकांड विद्वान रावण की बहुसंख्य सेनाओं को हराना, इस बात का परिचायक है कि त्रेता के अंत तक मानव और अन्य जीवों में संवाद टूटा नहीं है। जीव-जीव में विभिन्नता आई है, पर वह इतनी गहरी नहीं है कि संवाद व संपर्क की स्थिति ही न रहे।

त्रेता युग भी बहुत लंबी अवधि तक चलता है। पर त्रेता का काल कृत के काल का तीन चौथाई ही है। कुछ ग्रंथों के अनुसार, श्रीराम के स्वर्गारोहण के साथ ही त्रेता का अंत होकर द्वापर का प्रादुर्भाव होता है। भारतीय दृष्टि से जिसे इतिहास कहा जाता है उसका आरंभ भी द्वापर से ही होता दीखता है।

द्वापर में सृष्टि कृत युग की सहजता से बहुत दूर निकल चुकी है।

सभी जीवों और भावों में विभिन्नता आने लगती है। त्रेता का एक वेद अब चार में विभाजित हो जाता है और फिर इन चार की अनेक शाखाएँ बन जाती हैं। इसी युग में विभिन्न विद्याओं और विधाओं की उत्पत्ति होती है। ज्ञान का विभाजन होता है। अनेक शास्त्र बन जाते हैं।

सृष्टि की इस जटिलता में जीवन यापन के लिए अनेक कलाओं और तकनीकों की जरूरत पड़ती है। अनेक प्रकार के शिल्प आते हैं। खेती भी अब सहज नहीं रहती। अनाज पैदा करने के लिए अब अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। और इन विविध शिल्पों और कलाओं को वहन करने के लिए ही शायद शूद्र वर्ण बनता है। इस तरह द्वापर में चार वर्ण हो जाते हैं।

द्वापर एक प्रकार से राजाओं का ही युग दिखता है। कुछ लोग तो द्वापर का प्रारंभ श्रीराम के अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठने के समय से ही मानते हैं। महाभारत के शांतिपर्व में और दूसरे पुराणों में राजाओं की जो अनेक कथाएँ हैं उनका संबंध द्वापर से ही दिखता है। त्रेता की घटनाएँ वे नहीं लगतीं। राजाओं की इन कथाओं में चित्रित वातावरण रामायण की कथा के वातावरण से एकदम भिन्न है। रामायण में धर्म का ही साम्राज्य है। पर द्वापर के राजा लोग तो क्षत्रियोचित आवेश में ही लिप्त हैं। उनमें अपार ईर्ष्या और लोभ है। क्रूरता उनके स्वभाव में निहित है। इसीलिए शायद यह माना गया है कि द्वापर में धर्म के केवल दो ही पाँव बचे रहते हैं, और उन दो पाँवों पर खड़ा धर्म डाँवाडोल रहता है।

धर्म की हानि और क्षत्रियों की ईर्ष्या, लोभ व क्रूरता के इस संदर्भ में ही पृथ्वी विष्णु से जाकर प्रार्थना करती है कि इतना अधिक बोझ अब उससे सहा नहीं जाता, और इस बोझ को हल्का करने का कोई उपाय होना चाहिए। तब विष्णु श्रीकृष्ण और श्री बलराम के रूप में अंशावतार लेते हैं। उनकी सहायता के लिए अनेक दूसरे देवों से विभिन्न रूपों में अवतरण का आयोजन होता है। इस सारे आयोजन के बाद महाभारत का युद्ध होता है। उस युद्ध में धर्म की अधर्म पर विजय होती है, ऐसा सामान्यतः माना जाता है। पर इस विजय के बावजूद कलियुग का आना रुक नहीं पाता। महाभारत के युद्ध के कुछ ही सालों में श्रीकृष्ण और उनके वंशज यादवों का भी अंत हो जाता है। यही समय कलियुग के आरंभ होने का माना जाता है। श्रीकृष्ण

के अवसान की बात सुन पांडव, द्रौपदी सहित अपने जीवन का अंत करने के लिए हिमालय पर चले जाते हैं। उनका पोता परीक्षित महाभारत युद्ध में हुए सर्वनाश से किसी तरह बच गया था। वह भी कुछ सालों में सर्पविष से मारा जाता है। परीक्षित कलियुग का पहला राजा कहा गया है।

पौराणिक गणना के अनुसार श्रीकृष्ण के अवसान के साथ द्वापर का अंत होकर कलियुग आरंभ होता है। द्वापर की अवधि कृत युग की अवधि से आधी है। कहा जाता है कि महाभारत का युद्ध द्वापर के अंत और कलियुग के आरंभ से ३६ साल पहले हुआ। आज की विश्वसनीय मानी जाने वाली गणनाओं से वर्तमान समय कलि का ५०६२ वाँ साल बैठता है। यह कलियुग की शुरूआत ही है। बाकी तीन युगों की तरह कलियुग की अवधि भी बहुत लंबी है, चाहे यह कृत की अवधि का एक चौथाई ही है। कलियुग को कुल ४,३२,००० साल तक चलना है, ऐसा कहा गया है।

कलियुग का मुख्य लक्षण यह है कि इसमें धर्म केवल एक पाँव पर टिका रहता है। धर्म की स्थिति द्वापर में ही डाँवाडोल–सी रहती है। अब धर्म का संतुलन नितांत अस्थिर हो जाता है। कलियुग में सृष्टि कृत के सहज भेद–भाव विहीन आनंदमय काल से बहुत दूर निकल जटिलता, विभिन्नता और विभाजन के चरम की ओर अग्रसर होती है। जीवन यापन इस युग में एक कठिन कला–सा बन जाता है। उसमें पहले युगों वाली कोई सहजता नहीं रहती। पर इस कठिन युग में जीव मात्र के लिए धर्म का मार्ग कुछ आसान कर दिया जाता है। जो पुण्य दूसरे युगों में अनेक तप करने पर मिलता है, वैसा पुण्य कलियुग में साधारण अच्छे कामों से ही प्राप्त हो जाता है। यह कलियुग की जटिलता में फँसे जीव पर कर्ता की कृपा का परिचायक है। इस प्रावधान से कर्ता की दृष्टि में और कर्ता के साथ–साथ संबंधों के संदर्भ में जीव के लिए चारों युगों में कुछ संतुलन–सा ला दिया गया है।

यह संक्षेप में भारतीय सृष्टि की कथा है। साधारण भारतीय जन की, और उसमें उसके अपने स्थान की समझ इस कथा से ही बनी है। वर्तमान काल को भी वह इस कथा के संदर्भ में ही देखता है। अलग–अलग पुराणों में, और सामान्य स्तर पर कहने के अलग–अलग तरीकों के साथ,

इस कथा के विस्तृत विवरणों में थोड़ा–बहुत अंतर आता रहता होगा। पर मुख्य कथ्य तो बहुत स्पष्ट है और उसमें शायद कभी कोई बदलाव नहीं आता। इस कथ्य के अनुसार सृष्टि एक बार प्रकट होने के बाद सतत् गिरावट की ओर जाती है। विभिन्न विद्याएँ और विधाएँ, विभिन्न कलाएँ और शिल्प इत्यादि, विभिन्न ज्ञान–विज्ञान, ये सब सृष्टि की गिरी हुई जटिल अवस्था में जीवन को थोड़ा आसान जरुर बनाते हैं, पर वे सृष्टि की दिशा को बदल नहीं सकते। गिरावट की ओर बढ़ने की, सहजता से जटिलता की ओर, विभिन्नता और विभाजन की ओर चलते जाने की मूल वृत्ति को तो कर्ता के अंशावतार भी नहीं बदल पाते। वे भी सृष्टि की गिरावट की अवस्था में जीवन को संभव बनाने, धर्म का कुछ संतुलन बनाए रखने की व्यवस्था मात्र करते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण के सारे पराक्रम और महाभारत युद्ध जैसे व्यापक प्रयत्न के बाद भी कलियुग का आना रूक नहीं पाता। हाँ, द्वापर में इकट्ठे हुए सारे बोझ को हटाए बिना कलियुग का आना पृथ्वी के लिए और शायद जीव मात्र के लिए असहनीय ही होता।

सृष्टि की इस कथा का दूसरा मुख्य कथ्य सृष्टि के अनादि–अनंत विस्तार में मानव के प्रयत्न और उसके काल की क्षुद्रता का है। सृष्टि की लीला एक बहुत बड़े स्तर पर एक विशाल कालचक्र में चल रही है। इस विशालता में न कृतयुग के आनंदभोगी मानव की कोई विशेषता है, न कलियुग की जटिलता में फँसे मानव की। यह सब तो आता जाता ही रहता है। चतुर्युग का यह आवर्तन हमारे लिए बड़ा दिखता है। पूरे ४३,२०,००० साल इसे पूरा होने में लगते हैं। पर प्राचीन मान्यता के अनुसार ब्रह्मा के तो एक दिन में ऐसे १००० चतुर्युग होते हैं। एक कल्प के इस एक दिन के बाद ब्रह्मा कल्पभर की रात्रि के लिए विश्राम करते हैं, और फिर एक नया कल्प और १,००० चतुर्युगों का एक नया दिन आरंभ हो जाता है। ऐसे ३६० दिन–रात मिलकर ब्रह्मा का एक वर्ष होता है। और ब्रह्मा का जीवन १०० वर्षों तक चलता है। उसके बाद नए ब्रह्मा आकर फिर वही लीला आरंभ करते हैं। इस विशाल कालचक्र में मानव और उसके जीवन की बिसात क्या है?

हम किसी और के संसार में रहने लगे हैं

सृष्टि के अनादि अनंत प्रवाह में मानव और उसके प्रयत्नों की नितांत क्षुद्रता का भारतीय भाव आधुनिकता से मेल नहीं खाता। हर नए आवर्तन में सृष्टि के सतत गिरावट की ओर ही बढ़ते जाने की बात भी आधुनिकता की विश्व–दृष्टि में जमती नहीं। मानवीय ज्ञान–विज्ञान और कला–कौशल आदि का मात्र ऐसे उपायों के रूप में देखा जाना जो सृष्टि की गिरावट वाली अवस्था में जीवन–यापन को किंचित संभव बनाते हैं, यह भाव तो ज्ञान–विज्ञान के बारे में आधुनिकता की समझ के बिलकुल विपरीत बैठता है। आधुनिकता की विश्व दृष्टि के अनुसार तो मानव अपने प्रयत्नों से, अपने ज्ञान–विज्ञान से, अपने कला–कौशल व तकनीकों इत्यादि से सृष्टि को निरंतर बेहतर बनाता चला जाता है, ऊपर उठाता चला जाता है, पृथ्वी पर स्वर्ग की प्रतिछवि का निर्माण करता जाता है।

भारतीय मानस में सृष्टि के विकास के क्रम और उसमें मानवीय प्रयत्न और मानवीय ज्ञान–विज्ञान के स्थान की जो छवि अंकित है, वह आधुनिकता से इस प्रकार विपरीत है तो इस विषय पर गहन चिंतन करना पड़ेगा। यहाँ जो तंत्र हम बनाना चाहते हैं और जिस विकास प्रक्रिया को यहाँ आरंभ करना चाहते हैं वह तो तभी यहाँ जड़ पकड़ पाएगी और उसमें जनसाधारण की भागीदारी तो तभी हो पाएगी जब वह तंत्र और विकास प्रक्रिया भारतीय मानस और काल दृष्टि के अनुकूल होगी। इसलिए इस बात पर भी विचार करना पड़ेगा कि व्यवहार में भारतीय मानस पर छाए विचारों और काल की भारतीय समझ के क्या अर्थ निकलते हैं ? किस प्रकार के व्यवहार और व्यवस्थाएँ उस मानस व काल में सही जँचते हैं ? सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि मानवीय जीवन और मानवीय ज्ञान की क्षुद्रता का जो भाव भारतीय सृष्टि–गाथा में स्पष्ट झलकता है, वह केवल अकर्मण्यता को ही जन्म दे सकता है। पर यह तो बहुत सतही बात है।

किसी भी विश्व व काल दृष्टि का व्यावहारिक पक्ष तो समय सापेक्ष होता है। अलग–अलग संदर्भों में अलग–अलग समय पर उस दृष्टि की अलग–अलग व्याख्याएँ होती जाती हैं। इन व्याख्याओं से मूल चेतना नहीं बदलती पर व्यवहार और व्यवस्थाएँ बदलती रहती हैं। और एक ही सभ्यता कभी अकर्मण्यता की ओर कभी गहन कर्मठता की ओर अग्रसर दिखाई देती है।

भारतीय ऋषि–मुनि इत्यादि विभिन्न संदर्भों में भारतीय विश्व व काल दृष्टि की विभिन्न व्याख्याएँ करते ही रहे हैं। भारतीय सभ्यता का मौलिक साहित्य इन व्याख्याओं का भी साहित्य है। इस साहित्य को देख–समझ कर आज के संदर्भ में भारतीयता की कोई नई व्याख्या करने की बात भी सोची जा सकती है। भारतीय विश्व व काल दृष्टि के अनुरूप क्या उपयुक्त व्यवहार आज के समय में होगा और उसके लिए उपयुक्त व्यवस्थाएँ क्या होंगी, इस विषय पर विचार तो करना ही पड़ेगा। पर इस विषय पर आने से पहले भारतीय चित्त पर गहराई से अंकित कुछेक और मौलिक भावों की बात कर ली जाए।

ऐसा ही एक मौलिक भाव परा और अपरा विद्याओं में भेद का है। भारतीय परंपरा में किसी समय विद्या और ज्ञान का इन दो धाराओं में विभाजन हुआ है। जो विद्या इस नश्वर, सतत परिवर्तनशील, लीलामयी सृष्टि से परे के सनातन ब्रह्म की बात करती है, उस ब्रह्म से साक्षात्कार का मार्ग दिखाती है, वह परा विद्या है। इसके विपरीत जो विद्याएँ इस सृष्टि के भीतर रहते हुए दैनंदिन की समस्याओं के समाधान का मार्ग बतलाती हैं, साधारण जीवन–यापन को संभव बनाती हैं, वे अपरा विद्याएँ हैं। और ऐसा माना जाता है कि परा विद्या अपरा विद्याओं से ऊँची है।

परा और अपरा का यह विभाजन कब हुआ यह तो साफ नहीं है। कृत युग की बात यह नहीं हो सकती। उस समय तो किसी विद्या की आवश्यकता ही नहीं है। वेद ही नहीं हैं। त्रेता की भी बात शायद यह न हो। क्योंकि त्रेता में एक ही वेद है और उसका कोई विभाजन नहीं हुआ है। त्रेता के अंत और द्वापर के आरंभ में जब सृष्टि की बढ़ती जटिलता के साथ–साथ अनेकानेक कला–कौशलों और विद्या–विधाओं की आवश्यकता पड़ने लगी,

उस समय शायद परा–अपरा के इस विभाजन की बात उठी होगी। पर साधारण तौर पर ऐसा माना जाता है कि चारों वेद, उनकी विभिन्न शाखाओं और उनसे संबंधित ब्राह्मण, उपनिषद, आदि परा ज्ञान के स्रोत हैं। इनसे भिन्न जो पुराण, इतिहास आदि हैं, और विभिन्न शिल्पों व आयुर्वेद ज्योतिष आदि से संबंधित जो संहिताएँ हैं, वे सब अपरा के भंडार हैं।

वास्तव में मूल ग्रंथों के स्तर पर परा और अपरा का विभाजन इतना स्पष्ट नहीं है जितना माना जाता है। उपनिषदों में तो केवल परा–ज्ञान की बात है, पर वेदों में अन्य स्थानों पर ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो सीधे अपरा से ही संबंधित हैं। ऐसे ही पुराणों में ब्रह्म–ज्ञान की बातें कम नहीं हैं। फिर व्याकरण जैसी विद्याएँ तो परा और अपरा दोनों से ही संबंध रखती हैं। दोनों प्रकार के ज्ञान के संप्रेषण के लिए व्याकरण की आवश्कता रहती है। ज्योतिष–शास्त्र भी कुछ सीमा तक परा–अपरा दोनों से संबंधित होगा। पर आयुर्वेद जैसे केवल अपरा से संबंधित विषय की संहिताओं में भी परा की बात तो होती ही है और साधारण स्वास्थ्य की समस्याओं को परा के संदर्भ में देखने के प्रयास होते हैं।

इस सबके बावजूद सामान्य भारतीय चित्त में परा और अपरा के बीच की विभाजन रेखा बहुत गहरी दिखती है। साधारण बातचीत में पुराणों का प्रसंग आने पर लोग प्रायः कह देते हैं कि इन किस्से–कहानियों को तो हम नहीं मानते, हम तो केवल वेदों में विश्वास रखते हैं। अपरा विद्याएँ सब निकृष्ट ही हैं और वास्तविक ज्ञान तो परा ज्ञान ही है ऐसा कुछ भाव तो भारतीय चित्त में बना रहता है। विद्वानों के स्तर पर भी इस प्रकार से बात चलती है कि जैसे भारतीयता का संबंध तो केवल परा से ही हो, अपरा से उसका कुछ लेना–देना ही न हो।

अपरा के प्रति हेयता का भाव शायद भारतीय चित्त का मौलिक भाव नहीं है। मूल बात शायद अपरा की हीनता की नहीं थी। कहा शायद यह गया था कि अपरा में रमते हुए यह भूल नहीं जाना चाहिए कि इस नश्वर सृष्टि से परे सनातन सत्य भी कुछ है। इस सृष्टि में दैनिक जीवन के विभिन्न कार्य करते हुए परा के बारे में चेतन रहना चाहिए। अपरा का सर्वदा परा के आलोक में नियमन करते रहना चाहिए। अपरा विद्या की विभिन्न मूल संहिताओं में कुछ ऐसा ही भाव छाया मिलता है। पर समय पाकर परा

से अपरा के नियमन की यह बात अपरा की हेयता में बदल गई है। यह बदलाव कैसे हुआ इस पर तो विचार करना पड़ेगा। और भारतीय मानस व काल के अनुरूप परा और अपरा में सही संबंध क्या बैठता है, इसकी भी कुछ व्याख्या हमें करनी ही पड़ेगी।

इस समय साधारण भारतीय चिंतन में परा और अपरा के बीच कुछ असंतुलन–सा है। यह असंतुलन शायद बहुत नया नहीं है। विद्वता के संसार में यह असंतुलन, हो सकता है काफी पहले से चल रहा हो। विद्वता की शायद यह प्रवृत्ति ही है कि साधारण जीवन से परे की अमूर्त व गूढ़ बातें उसमें अधिक महत्वपूर्ण हो जाती हैं। विद्वता की यह प्रवृत्ति भारतीय सभ्यता के मौलिक साहित्य में भी परिलक्षित होती गई होगी। या शायद अपने यहाँ ऐसा माना गया हो कि साधारण जीवन को चलाने के लिए जो आवश्यक कला–कौशल–तकनीकें आदि होती हैं वे साहित्य की विषय–वस्तु नहीं बन सकतीं। या शायद हमने ही अपरा वाले ग्रंथों को खोजने–देखने की विशेष चेष्टा नहीं की। हमारा ही ध्यान भारतीय साहित्य के परा वाले अंश पर टिका रहा है।

कारण जो भी हो, उपलब्ध साहित्य और साधारण चिंतन में यह असंतुलन तो है ही। वही असंतुलन अन्य अनेक विषयों पर अपने विचारों में आ गया है। जैसे वर्ण–व्यवस्था की बात है। वर्ण–व्यवस्था की व्याख्या में कुछ ऐसा मान लिया गया है कि जो वर्ण परा से संबंधित हैं वे ऊँचे हैं और जो अपरा से जुड़े हैं वे नीचे हैं। परा के जो जितना नजदीक है उतना वो ऊँचा है, और जो अपरा से जितनी गहराई से जुड़ा है, उतना वो नीचा है। इसलिए वेदाध्ययन, वेद–पाठ आदि करने वाले ब्राह्मण सबसे ऊँचे हो गए और सामान्य जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न विधाओं, कलाओं और शिल्पों का वहन करने वाले शूद्र सबसे नीचे।

पर यह ऊँच–नीच वाली बात तो बहुत मौलिक नहीं दिखती। पुराणों में इस बारे में चर्चा है। एक जगह ऋषि भारद्वाज कहते हैं कि यह ऊँच–नीच वाली बात कहाँ से आ गई? मनुष्य तो सब एक से ही लगते हैं, वे अलग–अलग कैसे हो गए? महात्मा गाँधी भी यही कहा करते थे कि वर्णों में किसी को ऊँचा और किसी को नीचा मानना तो सही नहीं दिखता। १६२० के आस–पास उन्होंने इस विषय पर बहुत लिखा और कहा। पर इस

विषय में हमारे विचारों का असंतुलन जा नहीं पाया। पिछले हजार दो हजार वर्षों में भी इस प्रश्न पर बहस रही होगी। लेकिन स्वस्थ वास्तविक जीवन में तो ऐसा असंतुलन चल नहीं पाता। वास्तविक जीवन के स्तर पर परा व अपरा के बीच की दूरी और ब्राह्मण व शूद्र के बीच की असमानता की बात भी कभी बहुत चल नहीं पाई होगी। मौलिक साहित्य के स्तर पर भी इतना असंतुलन शायद कभी न रहा हो। यह समस्या तो मुख्यतः समय–समय पर होने वाली व्याख्याओं की ही दिखाई देती है।

पुरुष सूक्त में यह अवश्य कहा गया है कि ब्रह्मा के पाँवों से शूद्र उत्पन्न हुए, उसकी जंघाओं से वैश्य आए, भुजाओं से क्षत्रिय आए और सिर से ब्राह्मण आए। इस सूक्त में ब्रह्मा और सृष्टि में एकरूपता की बात तो है। थोड़े में बात कहने का जो वैदिक ढंग है उससे यहाँ बता दिया गया है कि यह सृष्टि ब्रह्म की ही व्यास है, उसी की लीला है। सृष्टि में अनिवार्य विभिन्न कार्यों की बात भी इसमें आ गई है। पर इस सूक्त में यह तो कहीं नहीं आया कि शूद्र नीचे हैं और ब्राह्मण ऊँचे हैं। सिर का काम पाँवों के काम से ऊँचा होता है, यह तो बाद की व्याख्या लगती है। यह व्याख्या तो उलट भी सकती है। पाँवों पर ही तो पुरुष धरती पर खड़ा होता है। पाँव टिकते हैं तो ऊपर धड़ भी आता है, हाथ भी आते हैं। पाँव ही नहीं टिकेंगे तो और भी कुछ नहीं आएगा। पुरुष सूक्त में यह भी नहीं है कि ये चारों वर्ण एक ही समय पर बने। पुराणों की व्याख्या से तो ऐसा लगता है कि आरंभ में सब एक ही वर्ण थे, बाद में काल के अनुसार जैसे–जैसे विभिन्न प्रकार की क्षमताओं की आवश्यकता होती गई, वैसे–वैसे वर्ण–विभाजित होते गए।

जैसे परा–अपरा की बात के साथ जोड़ कर, पुराणकारों के समय से ही हमने वर्णों में ऊँच–नीच का विचार बना लिया है, वैसे ही कर्मों में भी ऊँच–नीच की बात आ गई है। इस स्तर पर कर्म–फल का विचार भारतीय मानस में बहुत गहरे अंकित है। जैसे हम यह मानते हैं कि सृष्टि में जो भी उत्पन्न होता है उसका नाश अवश्य होता है, वैसे ही यह माना जाता है कि सृष्टि में होने वाली हर घटना का कोई कारण अवश्य है। कर्मों और उनके फलों की एक शृंखला–सी बनती जाती है और उस शृंखला के भीतर सब घटनाएँ घटती हैं।

कर्म और कर्मफल के इस मौलिक सिद्धांत का इस विचार से तो

कोई संबंध नहीं है कि कुछ कर्म अपने आप में निकृष्ट होते हैं और कुछ प्रकार के काम उत्तम। वेदों का उच्चारण करना ऊँचा काम होता है और कपड़ा बुनना नीचा काम, यह बात तो परा–अपरा वाले असंतुलन से ही निकल आई है। और इस बात की अपने यहाँ इतनी यांत्रिक–सी व्याख्या होने लगी है कि बड़े–बड़े विद्वान भी दरिद्रता, भुखमरी आदि जैसी सामाजिक अव्यवस्थाओं को कर्मफल के नाम पर डाल देते हैं। श्री ब्रह्मानंद सरस्वती जैसे जोषीमठ के ऊँचे शंकराचार्य तक कह दिया करते थे कि दरिद्रता तो कर्मों की बात है। करुणा, दया, न्याय आदि जैसे भावों को भूल जाना तो कर्मफल के सिद्धांत का उद्देश्य नहीं हो सकता। यह तो सही व्याख्या नहीं दिखती।

कर्मफल के सिद्धांत का अर्थ तो शायद कुछ और ही है। क्योंकि कर्म तो सब बराबर ही होते हैं। लेकिन जिस भाव से, जिस तन्मयता से कोई कर्म किया जाता है वही उसे ऊँचे और नीचा बनाता है। वेदों का उच्चारण यदि मन लगाकर ध्यान से किया जाता है तो वह ऊँचा कर्म है। उसी तरह मन लगाकर ध्यान से खाना पकाया जाता है तो वह भी ऊँचा कर्म है। और भारत में तो ब्राह्मण लोग खाना बनाया ही करते थे। अब भी बनाते हैं। उनके वेदोच्चारण करने के कर्म में और खाना बनाने में बहुत अंतर नहीं है। पर वेदोच्चारण ऐसे किया जाए जैसे बेगार काटनी हो, या खाना ऐसे बनाया जाए जैसे सिर पर पड़ा कोई भार किसी तरह हटाना हो, तो दोनों ही कर्म गड़बड़ हो जाएँगे।

इसी तरह दूसरे काम हैं। झाड़ू देने का काम है। बच्चे पालने का काम है। धोबी का काम है। नाई का काम है। बुनकर का काम है। कुम्हार का काम है। पशुपालन का काम है। जूते बनाने का काम है। ये सभी काम यदि उसी तरह ध्यान से, तन्मयता के साथ किए जाते हैं तो ऊँचे कर्म बन जाते हैं। उन कामों में ऐसा कुछ नहीं है जो उन्हें स्वभाव से ही निकृष्ट बनाता हो।

इस संदर्भ में एक पौराणिक कथा है। एक ऋषि थे। वे पता नहीं कितने वर्षों से एक ही स्थान पर समाधि लगाए तपस्या कर रहे थे। एक दिन अचानक उनकी समाधि टूटी। उन्होंने पाया कि कोई चिड़िया उनके

सिर पर बीट कर गई है। तब उन्होंने आँखें खोलकर रोष के साथ चिड़िया की ओर देखा। चिड़िया वहीं भस्म हो गई। ऋषि को लगा कि उनकी तपस्या पूरी हो गई है।

उसके बाद वे समाधि से उठे और बस्ती की ओर चल दिए। एक घर का दरवाजा खटखटाया और भिक्षा की गुहार लगाई। गृहिणी शायद अपने काम में व्यस्त थी। उसे दरवाजा खोलने में कुछ देरी हो गई। इतने में ही ऋषि को रोष होने लगा। जब गृहिणी ने दरवाजा खोला तो वे फिर गुस्से–भरी आँखों से उसकी ओर देखने लगे। गृहिणी ने कहा, "महाराज अकारण रुष्ट मत होइए। मैं वह चिड़िया तो नहीं हूँ।"

ऋषि को विचित्र लगता है कि इतनी तपस्या के बाद जो सिद्धि उन्हें मिली थी उसका इस साधारण गृहिणी पर तनिक प्रभाव नहीं होता। उलटा वह स्वयं ही उनकी सिद्धि के रहस्य को घर बैठे जान गई है। वे जानना चाहते हैं कि यह सब क्या है ? गृहिणी उन्हें एक कसाई का नाम बताती है और कहती है कि इस विषय का भेद तो उन्हें वह कसाई ही बता सकता है।

ऋषि और भी आश्चर्यचकित हो उस कसाई के पास पहुँचते हैं। कसाई उन्हें बताता है कि वह गृहिणी तो पूरी तन्मयता से अपने कर्म में लगी थी। उसके गृह–कार्य की महिमा आपकी तपस्या से कम तो नहीं। और आपकी तपस्या तो तभी नष्ट हो गई थी जब उस चिड़िया पर आप रुष्ट हुए थे। मैं भी कसाई का अपना काम पूरी तन्मयता से करता हूँ। तन्मयता के उस भाव से किए सब कर्म महान हैं। वह वेद–पाठ हो, ध्यान–साधना हो, गृह–कार्य हो, या फिर कसाईगिरी।

यह पौराणिक कथा कर्मफल के सिद्धांत की एक व्याख्या प्रस्तुत करती है। ऐसी ही अनेक और व्याख्याएँ होंगी। परा–अपरा और वर्णव्यवस्था पर भी ऐसी अनेक व्याख्याएँ होंगी। उन व्याख्याओं को देख–परखकर आज के संदर्भ में भारतीय मानस व काल की एक नई व्याख्या कर लेना ही विद्वता का उद्देश्य हो सकता है। परंपरा का इस प्रकार नवीनीकरण करते रहना, मानस को समयानुरूप व्यवहार का मार्ग दिखाते रहना ही हमेशा से ऋषियों, मुनियों और विद्वानों का काम रहा है।

सभ्यताओं का नवीनीकरण तो करना ही होता है

एक और पौराणिक प्रसंग है। विष्णु पुराण से। कहते हैं कि एक बार महर्षि व्यास नदी में नहा रहे थे। उस समय कुछ ऋषि उनसे मिलने आते हैं, और दूर से वे देखते हैं कि नहाते हुए महर्षि व्यास जोर–जोर से ताली बजा–बजाकर कलियुग की, शूद्रों की और स्त्रियों की जय बोल रहे हैं। कह रहे हैं, 'कलियुग महान हैं', 'शूद्र महान हैं', 'स्त्रियाँ महान हैं'।

बाद में ऋषि लोग महर्षि व्यास से पूछते हैं कि नहाते हुए वे यह सब क्या कह रहे थे ? व्यासजी उन्हें समझाते हैं कि कृत, त्रेता और द्वापर में जो काम बहुत कठिनाई से हो पाते थे, वे कलियुग में तो क्षण–भर में ही हो जाते हैं। थोड़ी–सी भक्ति से ही ब्रह्म के साक्षात्कार हो जाते हैं। और इस कलियुग में स्त्रियाँ और शूद्र अपना काम तन्मयता से करके ब्रह्म को पा जाते हैं।

महर्षि व्यास की बहुत महत्ता है। कहा जाता है कि द्वापर में उन्होंने वेद को चार में, और फिर उन चार को अनेक शाखाओं में विभाजित किया। उसके बाद उन्होंने विशेष तौर से शूद्रों व स्त्रियों के लिए महाभारत की रचना की और स्वयं गणेशजी को रचने के बाद, विश्व की अवस्था पर विचार करते हुए महर्षि व्यास दुःखी हो गए। उन्हें लगा कि शूद्र और स्त्रियाँ वेदों से तो वंचित कर दिए गए हैं, और उनके लिए जिस महाभारत की रचना उन्होंने की है वह बहुत दुःख और क्षोभ वाली गाथा है। उसे पढ़कर मन प्रसन्न नहीं होता। उत्साह नहीं आता। तब उन्होंने अपनी गलती को सुधारने के लिए पुराणों की रचना की, और उनके माध्यम से सृष्टि और उसके कर्ता के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भाव को सभी के लिए सुलभ बनाने का प्रयास किया। इन पुराणों में से श्रीमद्‌भागवत पुराण सबसे अधिक भक्ति व श्रद्धा में पगा दिखता है। नारद–मुनि के परामर्श पर रचे गए व्यासजी के इस पुराण में वासुदेव श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। शायद भारत भर में श्रीमद्‌भागवत पुराण साधारणजनों के भारतीय साहित्य

से परिचय का मुख्य स्रोत है।

महर्षि व्यास की यह सहृदयता, प्राणी मात्र के लिए दया व करुणा का यह भाव, जिसे मन में रखकर उन्होंने पुराणों की रचना की, वही भाव विष्णु पुराण वाले ऊपर के प्रसंग में झलकता है। कलियुग की, शूद्रों की और स्त्रियों की जय बोलते हुए महर्षि व्यास कलियुगी काल की एक व्याख्या कर रहे हैं। और उस व्याख्या के माध्यम से धर्म की ग्लानि के इस काल को साधारणजन के लिए कुछ सहज, कुछ सहनीय बनाए दे रहे हैं।

हो सकता है कि कलियुगी काल की व्यासजी वाली व्याख्या ही सही हो। हो सकता है कि जैसे कृतयुग में केवल एक ही वर्ण है वैसे ही कलियुग में भी केवल एक शूद्र वर्ण ही बच रहता हो। सभी शूद्रों जैसे ही हो जाते हों। अपरा विद्या और व्यावहारिक ज्ञान की पराकाष्ठा के इस युग में अपरा और व्यवहार के वाहक शूद्र और स्त्रियाँ ही महत्वपूर्ण रह जाते हों। गाँधीजी भी कुछ ऐसी ही बात किया करते थे कि इस काल में तो हम सबका शूद्रों जैसा होना ही सही है।

पर बात शायद व्याख्या के सही या गलत होने की नहीं है क्योंकि व्याख्याएँ तो समय व संदर्भ सापेक्ष हुआ करती हैं। महत्वपूर्ण बात व्याख्याकार की सहृदयता की है। प्राणी मात्र के लिए मन में करुणा, दया व सम्मान का भाव रखने की है। उस तरह के भाव को रखकर ही हम अपने मानस, चित्त व काल की ऐसी व्याख्याएँ कर पाएँगे जिनसे आज के संदर्भ में भारतीयता की धारा फिर स्थापित, फिर प्रवाहित हो सके। अपनी दरिद्रता तो अपने कर्मों का ही फल है इस तरह की कठोर व्याख्याओं से तो कोई काम नहीं चल पाएगा।

प्राणी मात्र के प्रति सहृदयता के साथ-साथ अपने चित्त व मानस की सक्षमता, अपनी परंपरा की सशक्तता में विश्वास भी रखना पड़ेगा। हममें ऐसे बहुत हैं जो मानते हैं कि कभी भारतीय सभ्यता बहुत महान रही थी। पर अब तो उसके दिन नहीं रहे। भारतीय मानस, चित्त व काल की बात करने का तो अब समय नहीं रहा। कांची कामकोटि पीठम् के श्री जयेंद्र सरस्वती ही कहते रहते हैं कि पहले तो हम महान थे, पर आज की बात मैं नहीं करता। लेकिन समस्या तो आज की है। आज के संदर्भ में

भारतीय मानस व काल को प्रतिष्ठापित करना ही विद्वता का, या भारतीय राजनीति का, या भारतीय कला-कौशल का कार्य है।

ऐसा हो सकता है कि आज भारत के सभी वासी भारतीय चित्त, मानस व काल की परंपरागत समझ में विश्वास न रखते हों। ऐसे भी भारतवासी होंगे जो कलि जैसे किसी युग के होने की बात ही नहीं मानते होंगे। ऐसे भी होंगे, विशेषकर भारतीय मुसलमानों, ईसाइयों और पारसियों में अनेक ऐसे होंगे जो चतुर्युग व कल्प आदि को भी नहीं मानते। पेरियार रामस्वामी नायकर और उनके अनुगामी लोग भी शायद चतुर्युग आदि को न मानते हों। भारत के भिन्न-भिन्न भागों में और भी ऐसे जन होंगे जो इन मान्यताओं में विश्वास नहीं रखते। पर जो लोग पुराणों आदि को न मानने का दावा करते हैं उनमें से बहुतेरे प्रायः अपने-अपने जाति-पुराणों में तो विश्वास रखते ही हैं। और इन असंख्य जाति पुराणों की संरचना महर्षि व्यास रचित पुराणों जैसी ही है।

खैर, इतना तो सभी भारतीयों के बारे में कहा जा सकता है। साधारण भारतीय ईसाइयों के बारे में भी उनका अपना चित्त व काल आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के चित्त व काल से मेल नहीं खाता। बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में तो वे भी नहीं हैं। ऐसा माना जा सकता है कि भारत के अधिक-से-अधिक आधा प्रतिशत लोगों को छोड़कर बाकी का आधुनिकता की बीसवीं-इक्कीसवीं सदी से कुछ लेना-देना नहीं है। उन ९९.५ प्रतिशत भारतीयों के चित्त व मानस में जो कुछ भी अंकित है उसका संबंध यूरोपीय आधुनिकता और उनकी बीसवीं-इक्कीसवीं सदी से तो नहीं ही है।

लेकिन इस आधुनिकता के प्रवाह में भारत के साधारणजन और उनकी बची-खुची व्यवस्थाएँ, उनके तीज-त्यौहार, उनके जीवन-मरण के कर्म आदि सब दब गए हैं। उनकी अपनी पहचान खो सी गई है और अपनी अस्मिता की इस हानि से भारत के सभी साधारणजन पीड़ित हैं। यह पीड़ा सभी की साझी है। भारत के साधारण मुसलमानों, ईसाइयों आदि की भी।

अब इस स्थिति से उबरने के रास्ते तो निकालने ही पड़ेंगे। ४-६

बरस पहले इंदिरा गाँधी निधि की ओर से भारत के ऐसे ही प्रश्नों पर विचार करने के लिए एक अंतरराष्ट्रीय गोष्ठी हुई थी। कहा जाता है कि उस गोष्ठी में किसी यूरोपीय विद्वान का सुझाव था कि भारत की समस्याओं का समाधान भारत के ईसाई हो जाने में है। यह सुझाव नया नहीं है। भारत को ईसाई हो जाना चाहिए, यह बात पिछले दो–सौ बरस से तो चल ही रही है। इसके लिए बड़े पैमाने पर सरकारी प्रयत्न भी होते रहे हैं। इसी ईसाईकरण का दूसरा नाम पश्चिमीकरण है, जिसे करने के प्रयत्न स्वतंत्र भारत की सरकारें भी करती चली आ रही हैं। भारत का ईसाईकरण मैकाले के रास्ते से हो, कार्ल मार्क्स के रास्ते से हो, या आज की वैज्ञानिक आधुनिकता के रास्ते से – बात एक ही है।

इन सब प्रयत्नों से भारतीय मानस का ऐसा पश्चिमीकरण हो पाता जिससे भारत के साधारणजन सहजता से यूरोप की २१ वीं सदी से जुड़ सकते, तो यह भारत की समस्याओं का एक समाधान तो होता। तब भारत के लोगों की मानसिक अवस्था और उनकी प्राथमिकताएं व आकांक्षाएं भी वैसी ही होतीं जैसी आज यूरोप व अमेरिका के साधारण लोगों की हैं। ऐसा कुछ हो गया होता तो भारत का साधारणजन भी अपने मानस में ब्रह्म का अंश होने और उस अंशत्व के नाते स्वयं में स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान होने का जो भाव पाले रखता है, वह भाव अपने आप नष्ट हो जाता। भारत के लोग भी पश्चिम के लोगों की तरह अपने–आपको एक सर्वशक्तिमान व्यवस्था के दासों जैसा मानने लगते। पश्चिम की पिछले चालीस–पचास बरस की संपन्नता और खुशहाली के बावजूद वहाँ के साधारणजन का मानस तो व्यवस्था के दास वाला ही है, मानस के स्तर पर वह अब भी प्लेटो के आदर्श राज्य और वास्तविक रोम साम्राज्य के गुलामों जैसा ही है। वैसा ही दासता वाला चित्त भारतीय साधारणजन का भी बन जाता, यदि ईसाईकरण व पश्चिमीकरण के पिछले दो–सौ बरस के प्रयास कहीं पहुँच पाते। फिर भी भारत की दुविधा का एक समाधान तो शायद वह होता।

लेकिन ऐसे समाधान शायद संभव नहीं हुआ करते। किसी सभ्यता के मानस व चित्त को पूरी तरह मिटाकर वहाँ एक नए मानस का प्रतिष्ठापन करना शायद संसार में संभव ही नहीं है। उसके लिए तो किसी सभ्यता का

पूरा विनाश ही करना पड़ता है, उसके सभी लोगों को समाप्त करके उनकी जगह एक नई प्रजा को बसाना पड़ता है। अमेरिका में कुछ वैसा ही हुआ। पर यूरोप के सभी प्रयत्नों के बावजूद भारत पश्चिम के हाथों ऐसी परिणति पर पहुँचने से अभी तक बचा है।

भारतीय सभ्यता का पश्चिमीकरण संभव नहीं तो फिर हमें अपने चित्त व काल के धरातल पर ही खड़ा होना पड़ेगा। आधुनिकता के तौर–तरीकों और मुहावरों से छुटकारा पाकर स्वयं को अपने ढंग से समझना पड़ेगा। कुछ उसी तरह जैसे महर्षि व्यास महाभारत में अपने पूरे इतिहास को, अपनी सभी इच्छाओं–आकांक्षाओं को समझ रहे हैं, और फिर कलियुग में जीने का एक मार्ग दिखा रहे हैं। या जैसे श्रीकृष्ण अर्जुन को विश्व–दर्शन करवा रहे हैं और उस विश्व–दर्शन के आधार पर अर्जुन को अपनी दुविधा से निकलने का रास्ता बता रहे हैं। वैसा ही कुछ विश्व–दर्शन हमें अपनी दृष्टि से अपने काल का करना होगा।

लेकिन यह काम यहाँ की परंपरा से जुड़े और उसे सम्मान से देखने वाले लोग ही कर सकते हैं। इस विश्व–दर्शन में सहृदयता का भाव बनाए रखना है तो यह भी आवश्यक होगा कि इस नए चिंतन–दर्शन में साधारण लोगों की मान्यताओं व आचार–व्यवहार को पुस्तकों व ग्रंथों में दर्ज मान्यताओं पर वरीयता मिले। ग्रंथों के साथ बँधना भारतीय परंपरा का अंग नहीं है। भारतीय ऋषियों ने कभी अपने को किसी ग्रंथ में दर्ज विचारों से बधाँ हुआ नहीं माना। यह सही है कि वे प्राचीन ग्रंथों की बातों को नकारते भी नहीं हैं। पर उन बातों की नित नई व्याख्या करते रहने का अधिकार तो वे रखते ही हैं। तभी तो व्यास ताली बजा–बजाकर कलियुग की और कलियुग में स्त्रियों व शूद्रों की जय बोल पाते हैं।

सभ्यताओं की दिशा का निर्धारण तो सभ्यताओं के सहज मानस, चित्त व काल पर विचार करके ही होता है। लेकिन निर्धारित दिशा में सभ्यता को चलाने का काम गृहस्थों का होता है। गृहस्थों में सभी आ जाते हैं। जो पांडित्य में ऊँचे हैं, या पाकशास्त्र में निपुण हैं, या खेती में लगे हैं या विभिन्न शिल्पों में दक्ष हैं, या आज के विज्ञान और आज की तकनीकों में दक्ष हैं, या राज्य व दंड–व्यवस्था चलाना जानते हैं, या वाणिज्य में लगे हैं,

वे सब गृहस्थ मिलकर ही सभ्यता को चलाते हैं। सभ्यता की दिशा भटक जाए तो भी सबेरे से शाम तक और एक दिन से अगले दिन तक गृहस्थी तो चलानी ही पड़ती है। गृहस्थी को चलाए रखना गृहस्थ का मुख्य काम है। इसलिए साधारण तौर पर यह सही है कि राजनेताओं, व्यवस्थापकों और विद्वानों इत्यादि का अपनी दिनचर्या चलाए रखने पर ही ध्यान केंद्रित करना जरूरी है।

पर ऐसा भी समय आता है जब सभ्यता की दिशा इतनी भटक जाती है कि रोजमर्रा की दिनचर्या चलाए रखने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। ऐसा ही समय भारत के लिए अब आया दिखता है। ऐसे समय में गृहस्थ को भी अपनी गृहस्थी छोड़ अपनी सभ्यता के लिए कोई नई दिशा, कोई नया संतुलन ढूँढ़ने पर ध्यान देना पड़ता है। आज के समय को भारतीय सभ्यता के लिए संकट का काल माना जाना चाहिए। और इस संकट से उबरने के लिए पर्याप्त साधन, समय व शक्ति जुटाने के प्रयास हमें करने चाहिए।

एक बार हम इस काम में लग जाएँगे तो भारतीय सभ्यता के लिए आधुनिक संदर्भो में एक नई उपयुक्त दिशा मिल ही जाएगी। ऐसे काम कुछ असंभव नहीं हुआ करते। समय–समय पर विभिन्न सभ्यताओं को अपनी मौलिक मान्यताओं को फिर से समझकर अपने भविष्य की दिशा ढूँढ़ने का काम करना ही पड़ता है। भारतीय सभ्यता में ही अनेक बार यह हुआ होगा।

कुछ गिने–चुने प्रश्न हैं जिनका समाधान हमें शीघ्रता से कर लेना है। अपने इतिहास व अपने साहित्य का एक सिंहावलोकन–सा करके अपने चित्त व काल की एक प्रारंभिक समझ बनानी है। सृष्टि के सर्जन और उसके विकास की प्रक्रिया का जो स्वरुप अपने मानस में अंकित है उसका एक चित्र–सा बना लेना है। समय के साथ अपने साहित्य में, और शायद अपने मानस में भी, विभिन्न विषयों पर जो असंतुलन–सा आ गया है, उसका कुछ समाधान कर लेना है। और फिर अपने चित्त व काल की कोई ऐसी व्याख्या बना लेनी है जो साधारण भारतीयजन के मन को जँचती है और जिसे लेकर आज के विश्व में भारतीयता के फिर प्रतिष्ठापन का

कोई मार्ग निकलता हो।

अपने आप में, अपने चित्त व काल में स्थित और अपनी दिशा में अग्रसर भारतीय सभ्यता का आज के विश्व के साथ क्या संबंध होगा और उस संबंध को कैसे स्थापित किया जाएगा, उसकी कुछ अल्पकालीन योजना भी हमें बनानी पड़ेगी। आरंभ में तो कोई ऐसा मार्ग निकालना ही पड़ेगा कि विश्व हमारे कामों में आड़े नहीं आए, और आज के विश्व के साथ कोई अकारण का झगड़ा नहीं हो। लंबे समय में तो विश्व के साथ सही संबंधों की ये समस्याएँ अपने आप हल हो जाया करती हैं। विश्व हमें अपनी दिशा में चलते हुए और उस प्रयास में सफल होते हुए देखेगा तो शायद उसे भी भारतीयता में अपने लिए और सारी मानवता के लिए महत्वपूर्ण कुछ दिखाई देने लगेगा। यह कोई नई बात नहीं है। इतिहास में अनेक बार ऐसा हुआ है जब विश्व की अनेक अन्य सभ्यताओं को लगने लगा कि भारत के पास उनकी समस्याओं के समाधान का कोई महती संदेश है। अपने ही समय में, अभी पचास–साठ वर्ष पहले जब महात्मा गाँधी इस देश को अपनी ही एक दिशा में ले चले थे, तब विश्व के बहुतेरे लोगों को लगने लगा था कि भारत पूरी मानवता को नया मार्ग दिखा देगा। वह स्थिति फिर आ सकती है। और उस स्थिति में, जब विश्व को भारतीयता में महत्व का कुछ दिखाई देने लगेगा, तब विश्व के साथ समानता के स्थायी स्वस्थ संबंध बनाने का उपाय भी निकल आएगा। उस स्थिति में पहुँचने के लिए जो बौद्धिक, मानसिक व भौतिक प्रयास करने आवश्यक हैं, उन्हें कर लेने का समय तो अब आ ही गया है।

श्री धर्मपाल द्वारा लिखी गई कुछ पुस्तकें

श्री धर्मपाल ने गत 35–40 वर्ष अठारहवीं–उन्नीसवीं सदी में इतिहास द्वारा उपेक्षित भारतीय समाज की शक्तियों–कमियों की खोज करने में लगाये हैं। देश–विदेश के अभिलेखागारों–ग्रंथागारों से प्रभूत दस्तावेज एकत्र किये है। इन दस्तावेजों से अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय समाज की ऐसी तस्वीर का पता चलता है जो आज के भारतीय मन में अंकित तस्वीर के सर्वथा विपरीत है। इन्हीं दस्तावेजों के आधार पर श्री धर्मपाल ने निम्न पुस्तकें लिखी है।

A

The Following five books (first published during 1971-1995) have been republished as a set by Other india Press, Mapusa-403507, Goa in AD 2000. The main title of the set is COLLECTED WRITINGS OF DHARAMPAL. PB. Rs-1300, HB. Rs-1700.

1. **Indian Science and Technology in the Eighteenth Century**- Some contempraryEuropean accounts (1971, Impex India)
2. **Civil Disobedience and Indian Tradition**, with Some Early Nineteenth Century Documents,Sarva Seva Sangh Prakashan, 1971.
3. **The Beautiful Tree**: Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century, Biblia Impex, 1983.
4. **Panchayat Raj and India's Polity**
5. **Essays on Tradition, Recovery and Freedom**

B

6. **The Madras Panchayat System**, 1973, Now out of print (is also included in No. 4)
7. **Despoliation and Defaming of India** : The early Nineteenth Century British Crusade, 1999, Bharat Peetham, Wardha
8. अंग्रजों से पहले का भारत, जनसत्ता 1987, शताब्दी प्रकाशन, विदिशा, 1988,
9. **भारतीय चित्त, मानस और काल**,जनसत्ता 1987, पुष्पा प्रकाशन, पटना, 1991,भारत पीठम,वर्धा–442101, 1998.
10. भारत का स्वधर्म, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर,1994, भारत पीठम,वर्धा–442101
11. **स्वदेशी और भारतीयता**, 2001, भारत पीठम, वर्धा–442101